॥ अथ तृतीयाध्याये प्रथमः पादः ॥

पूर्व के दोनों अध्यायों में ब्रह्म और जीव के स्वरूप का विवेचन किया गया है। अब तृतीय अध्याय का शुभारम्भ उस परब्रह्म की प्राप्ति का उपाय बतलाने के लिए किया जा रहा है। इसलिए इस अध्याय को साधनाध्याय या उपासनाध्याय कहा गया है। ब्रह्मप्राप्ति के साधनों में सर्वप्रथम विषयों से वैराग्य की जरूरत होती है तथा वह उसके लिए तभी से प्रयासरत हो जाता है। अतः वैराग्य प्रकट हो, इसके लिए बारम्बार जन्म-मरण एवं गर्भादि के दुःखों का दिग्दर्शन कराने हेतु तृतीय अध्याय के अन्तर्गत यह प्रथम पाद शुरू किया जा रहा है।

वर्तमान जगत् में जीव के देहों (शरीरों) का जो परिवर्तन होता रहता है, उसके सन्दर्भ में वेद ने जैसा प्रतिपादन किया है, उसी प्रकरण के सन्दर्भ में यहाँ विचार किया जा रहा है। प्रकरण का विषय है कि जब यह जीव देह को त्यागकर अन्य देह में जाता है, तब वह एकाकी ही गमन करता है या फिर और भी कोई (कुछ) उसके साथ जाता है ?

इसी विषय के समाधान हेतु आचार्य प्रथम सूत्र प्रारम्भ कर रहे हैं—

(२९३) तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥१ ॥

सूत्रार्थ— तदन्तरप्रतिपत्तौ = पूर्व देह का परित्याग कर नवीन देह की प्राप्ति के समय (यह जीव), सम्परिष्वक्तः = देह के बीज रूप सूक्ष्म तत्त्वों (भूतों) से संयुक्त होकर, रंहति = गमन करता है, प्रश्ननिरूपणाभ्याम् (यह तथ्य) प्रश्न और उसके निरूपण (समाधान) से सिद्ध होता है।

व्याख्या— वेद (श्रुति) में यह विषय कई स्थलों में प्रयुक्त हुआ है, उनमें से जिस स्थल का वर्णन स्पष्ट है, वह तो अपने आप जानकारी में आ जाता है, किन्तु जहाँ का वर्णन कुछ अस्पष्ट है, उसे स्पष्ट करने हेतु छा. उ.(५/३/१ से ५/९/२ तक) के प्रकरण में विचार किया गया है। छा. उ. में यह विषय-प्रकरण ऋषिकुमार श्वेतकेतु और राजा प्रवाहण के बीच संवाद प्रसङ्ग का है। उसमें वर्णन मिलता है कि पाञ्चाल देश के राजा प्रवाहण ने श्वेतकेतु नामक ऋषिकुमार से पाँच प्रश्न किये, जो निम्नवत् हैं- १. यहाँ से मरकर यह जीव कहाँ जाता है ? २. पुनः वहाँ से लौटकर कैसे आता है ? ३. यहाँ से गये हुए लोगों से वहाँ का लोक भर क्यों नहीं जाता ? ४. देवयान और पितृयान-मार्ग का क्या अन्तर है ? और ५. पाँचवीं आहुति में, यह जल पुरुष रूप हो जाता है, ऐसा होने का क्या कारण है ? इन पाँचों प्रश्नों का उत्तर न दे पाने के कारण श्वेतकेतु लज्जित होकर अपने पिता के पास गये और सब बातें कहने के बाद पूछे गये प्रश्न किये, पिताजी ने कहा- 'मैं स्वयं ही' इन प्रश्नों का उत्तर नहीं जानता ? तत्पश्चात् पुंत्र सहित वह राजा के पास पहुँचे। राजा ने ब्राह्मण को सम्मानित कर धन आदि देना चाहा, किन्तु ब्राह्मण ने दान आदि न ग्रहण कर उन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर बतलाने का अनुरोध किया। राजा ने आश्वस्त कर उत्तर दिया- इस जगत् में स्वर्ग, मेघ, पृथिवी, पुरुष और स्त्री यह पाँच अग्नियाँ हैं। श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न और वीर्य- ये पाँचों उक्त अग्नियों की आहुति हैं, तदनन्तर राजा प्रवाहण उक्त प्रश्नों का समाधान करते हुए कहते हैं- स्वर्ग लोक रूपी अग्नि में श्रद्धा की प्रथम आहुति से सोम का उद्भव हुआ। पुनः मेघ रूप अग्नि में सोम की आहुति देने से वृष्टि (वर्षा) की उत्पत्ति कही गई है, तदुपरान्त पृथिवी रूपी अग्नि में वृष्टि (वर्षा) की आहुति देने से अन्न का उद्भव बतलाया है। चौथी आहुति पुरुष रूपी अग्नि में अन्न की आहुति देने से वीर्य का उद्भव कहा गया है और स्त्री रूपी पाँचवीं अग्नि में वीर्य की आहुति देने से गर्भ का उद्भव बतलाकर कहा है कि इस प्रकार से यह जल पञ्चम आहुति में 'पुरुष' संज्ञक होता है। इस तरह जन्म लेने वाला व्यक्ति जब तक आयु होती है, तभी तक वह यहाँ जीवन प्राप्त करता है।

उक्त प्रकरण में जल के नाम से बीज रूप सभी तत्त्वों के समूह सूक्ष्म शरीर सहित वीर्य में अवस्थित जीव कहा गया है, इसलिए प्रश्नोत्तरपूर्वक विवेचना से यह पुष्ट होता है कि जीव जब एक देह से दूसरे देह में गमन करता है, तब बीज रूप में स्थित सभी तत्त्वों से संयुक्त होकर ही उत्क्रमण करता है॥१ ॥

उपर्युक्त प्रकरण में एकमात्र जल का ही पुरुष रूप हो जाना कहा गया है, तब फिर उसमें समस्त सूक्ष्म तत्त्वों का भी होना किस प्रकार जाना जायेगा? यदि श्रुति को यही बतलाना आवश्यक था, तो मात्र जल का ही नाम क्यों लिया?

उक्त आशंका का समाधान आचार्य अगले सूत्र में प्रस्तुत करते हैं—

(२९४) त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्॥२॥

सूत्रार्थ— त्र्यात्मकत्वात् = (यह देह) तीनों तत्त्वों के सम्मिश्रण से निर्मित हुआ है, इस कारण (जल तत्त्व के कथन से अन्य सभी तत्त्वों का ग्रहण हो जाता है), तु = तथा, भूयस्त्वात् = वीर्य में जलांश के सर्वाधिक होने से भी (जल के नाम से उसका विवेचन किया गया है)।

व्याख्या— जगत् की उत्पत्ति के सन्दर्भ में छान्दोग्योपनिषद् (६/३/३) में वर्णन मिलता है कि तीनों तत्त्वों के सम्मिश्रण के उपरान्त परब्रह्म ने जगत् के नाम और रूप को प्रकट किया। श्रुति में तीन तत्त्वों का वर्णन भी उपलक्षण है, उसमें सभी तत्त्वों का मिश्रण मान लेना चाहिए। वीर्य में समस्त भौतिक तत्त्वों के विद्यमान रहने के बावजूद भी जलांश अधिक रहता है। अत: जल से ही पुरुष का उद्‌भव करवा दिया गया, वस्तुत: शरीर के बीज भूत समस्त तत्त्वों का ग्रहण उसी के द्वारा ही हो जाता है। श्रुति में प्राण को भी जल बतलाया गया है और देह के बदलने के समय जीव का प्राण में अवस्थित होकर जाना कहा है। इस कारण भी जल का पुरुष रूप में परिवर्तित होना बतलाना उचित है। इसके अतिरिक्त स्त्री के गर्भ में जिस वीर्य को स्थापित किया जाता है, उसमें सभी तत्त्व स्थित रहते हैं; फिर भी जल की प्रचुरता होने से वहाँ उसी के नाम से उसका वर्णन किया गया है। यद्यपि श्रुति वचन देह के बीज भूत सभी तत्त्वों को लक्ष्य कराने वाला है। एक देह से दूसरे देह में गमन करते समय जीव प्राण में अवस्थित होकर जाता है और प्राण को जल रूप कहा गया है, अत: उस दृष्टि से भी वहाँ जल को ही पुरुष रूप में परिवर्तित होना बतलाना सर्वथा उचित है। इस प्रकार से सिद्ध होता है कि जीव सूक्ष्म तत्त्वों से सम्पन्न होकर ही एक देह से दूसरे देह में गमन करता है॥२॥

अगले सूत्र में आचार्य प्रकारान्तर से पुन: उक्त प्रकरण को पुष्ट करते हैं—

(२९५) प्राणगतेश्च॥३॥

सूत्रार्थ— प्राणगते: = जीव के साथ प्राणों के गमन का विवेचन होने से, च = भी (उक्त प्रकरण पुष्ट होता है)।

व्याख्या— प्राण की गति से ही जीवात्मा की गति सम्भव है, प्राण जब निकलते हैं, तभी मृत्यु होती है और जब तक प्राण उत्क्रमण नहीं करते, तब तक जीव की भी मृत्यु नहीं होती। इसका उल्लेख बृहदारण्यकोपनिषद् (४/४/२) में इस प्रकार मिलता है- जीव जब देह से बाहर उत्क्रमण करता है, तो मनुष्य का प्राण भी उसका अनुगमन करता है और उस प्राण के साथ सभी इन्द्रियाँ भी चलना शुरू कर देती हैं, ऐसा ही वर्णन प्रश्नोपनिषद् (३/१ से ३/१०) में भी प्राप्त होता है, प्रश्नोपनिषद् में आश्वलायन मुनि पिप्पलाद जी से प्राण के सन्दर्भ में प्रश्न करते हैं , उनमें से एक प्रश्न यह है कि यह (प्राण) एक देह को त्यागकर जब दूसरी देह में गमन करता है, तब पहले देह से किस तरह उत्क्रमण करता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए पिप्पलाद जी कहते हैं- 'जब इस देह से उदान वायु उत्क्रमण करता है, तब यह देह ठण्डा पड़ जाता है, उस समय जीव मन में विलीन हुई सभी इन्द्रियों एवं उदान वायु के सहित दूसरे देह में गमन कर जाता है, उस समय जीव का जैसा संकल्प होता है, वैसे संकल्प और मन के सहित सभी इन्द्रियों के सहित यह प्राण में अवस्थित हो जाता है। वह प्राण उदान के साथ जीव को उनके संकल्प के अनुसार विभिन्न लोकों, योनियों में ले जाता है। इस प्रकार जीव के सहित प्राण और मन, इन्द्रिय आदि के गमन का उल्लेख होने से भी यह सिद्ध होता है कि बीज रूप सभी सूक्ष्म तत्त्वों

से परिवेष्टित होकर यह जीव एक देह से दूसरे देह की प्राप्ति हेतु गमन कर जाता है॥३॥

अगले सूत्र में आचार्य दूसरी तरह का विरोध उपस्थित करके उसका समाधान प्रस्तुत करते हैं—

(२९६) अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात्॥४॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि यह कहें कि, अग्न्यादिगतिश्रुते: = अग्नि आदि में जाने (प्रवेश) की बात अन्य श्रुतियाँ भी कहती हैं, अत: (यह सिद्ध नहीं होता), इति न = तो ऐसा उचित नहीं है, भाक्तत्वात् = क्योंकि उसे श्रुतिभेद विषयक होने के कारण गौण ही समझना चाहिए।

व्याख्या— यदि ऐसा कहें कि सभी तत्त्वों का विलय अपने-अपने कारण में हो जाता है, क्योंकि बृहदारण्यकोपनिषद् (३/२/१३) के मुनि आर्तभाग और याज्ञवल्क्य के संवाद के अन्तर्गत ऐसा उल्लेख मिलता है कि वाणी अग्नि में लीन हो जाती है, प्राण वायु में लीन हो जाते हैं, चक्षु आदित्य में लीन हो जाते हैं। मन चन्द्रमा में, श्रोत्र दिशाओं में, देह धरती में, आत्मा आकाश में, लोम ओषधियों में , केश वनस्पतियों में और रक्त वीर्य में लीन हो जाते हैं। यहाँ ऐसी बात नहीं है; क्योंकि श्रुति में आर्तभाग ने प्रश्न में यह बात तो कही है, किन्तु याज्ञवल्क्य ने उत्तर में इसे ग्रहण नहीं किया, वरन् अपनी गोष्ठी सभागार से बाहर आकर उसे गुप्त रूप से वही पाँच आहुतियों वाली बात प्रश्नकर्त्ता को बतलाई, ऐसा अनुमान प्रमाण से लगता है, क्योंकि तदुपरान्त श्रुति कहती है कि उन्होंने जो कुछ भी उल्लेखित किया, वह निस्संदेह कर्म का ही उल्लेख था 'मनुष्य सत्कार्यों से श्रेष्ठ और असत् कार्यों से निकृष्ट होता है।' छान्दो. में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है, अत: विवेचनाओं में कोई भेद नहीं है। उक्त श्रुति प्रश्न से सम्बन्धित होने से गौण है, उत्तर की बात ही उचित है। इसी कारण उत्तर गुप्त रखा गया, क्योंकि सभागार के मध्य गर्भाधान आदि का उल्लेख करना उचित नहीं था, वहाँ पर सभी बच्चे भी उपस्थित थे॥४॥

अगले सूत्र में आचार्य फिर से विरोध प्रस्तुत करके उस शंका का समाधान करते हैं—

(२९७) प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः॥५॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि यह कहें कि, प्रथमे = प्रथम आहुति के वर्णन में, अश्रवणात् = (जल का कथन) न सुना जाने से (जल का पुरुष संज्ञक होना ठीक नहीं)तो, इति न = ऐसा नहीं है, हि= क्योंकि, उपपत्तेः = पूर्वापर प्रसङ्ग से (यही सिद्ध होता है कि); ता: एव = वहाँ 'श्रद्धा' शब्द से उस जल का ही वर्णन किया गया है।

व्याख्या— यदि यह कहा जाये कि छा.उ. (५/३/१ से ५/९/२) में सर्वप्रथम श्रद्धा को हवनीय द्रव्य का रूप प्रदान किया गया है, अत: सब उसी के परिणाम हैं। ऐसी स्थिति में यह कहना कि पुरुष संज्ञक जल नहीं हो सकता, क्योंकि इन सभी का कारण श्रद्धा ही है। ऐसी आशंका करना यहाँ व्यर्थ है; क्योंकि श्रद्धा के द्वारा संकल्प में स्थित सभी सूक्ष्म तत्त्वों का ग्रहण हो जाता है और पाँचवीं आहुति के क्रम में उसी (श्रद्धा) को जल नाम से कथन किया गया है, इस कारण कोई विरोध नहीं है। यहाँ इसका अभिप्राय यह हुआ कि जीव की गति को उसके अंतिम संकल्प एवं प्राण के द्वारा होने वाली कहा गया है। श्रुति में प्राण को ही जलमय कहा गया है। अत: संकल्पानुसार जिन सूक्ष्म तत्त्वों का समूह प्राण में अवस्थित होता है, उसे ही वहाँ श्रद्धा के नाम से कहा गया है। उक्त कथन गति में संकल्प की प्रमुखता दिखलाने के लिए है। सूत्र में सर्वप्रथम जो बात श्रद्धा के नाम से बतलाई गई है, उसी को ही अन्तिम वाक्य में जल के नाम से निरूपित किया गया है। अत: पूर्व और अपर दोनों प्रसङ्गों में किसी भी तरह का कोई विरोध नहीं है॥५॥

अगले सूत्र में आचार्य पूर्व की तरह से दूसरे विरोध का उत्थापन करके उसका निस्तारण (समाधान) प्रस्तुत करते हैं—

(२९८) अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॥६॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि यह कहें कि, अश्रुतत्वात् = श्रुति में तत्त्वों के सहित जीवात्मा के गमन का वर्णन सुना नहीं जाता, अतः (उनके सहित जीवात्मा गमन करती है, यह कहना उचित नहीं), इति न = तो ऐसा कहना ठीक नहीं है, इष्टादिकारिणाम् = क्योंकि उसी सन्दर्भ में शुभाशुभ कर्म करने वालों का वर्णन है, प्रतीतेः = इसलिए इस श्रुति में उस शुभ-अशुभकारी जीवात्माओं के उल्लेख की प्रतीति स्पष्ट है, अतः उक्त विरोध यहाँ उचित नहीं है।

व्याख्या— यदि यह कहें कि उक्त प्रकरण में जीवात्मा उन तत्त्वों को अपने साथ लेकर देह त्यागने के बाद गमन करता है, तो ऐसा उस प्रकरण में नहीं कहा गया है। वहाँ तो मात्र जल के नाम से तत्त्वों का ही पुरुष रूप में परिणत हो जाना कहा गया है। अतः यह कहना उचित नहीं है, कि तत्त्वों से संयुक्त होकर जीव एक देह से दूसरे देह में गमन करता है, क्योंकि उसी प्रकरण (छा.उ. ५/१०/७) में बताया गया है- जो शुभ-श्रेष्ठ कर्म करने वाले होते हैं, वे श्रेष्ठ योनि को पाते हैं और जो निम्न-अशुभ कर्म करने वाले होते हैं, वे निम्न (अधम) योनि को प्राप्त करते हैं। यहाँ इस वर्णन से शुभाशुभ कर्म करने वाले जीवों का उन तत्त्वों के सहित एक देह से दूसरे देह को गमन करना प्रमाणित होता है, अतः यहाँ किसी भी प्रकार का कोई भेद (विरोध) नहीं है, सभी तत्त्वों के सहित जीवात्मा को स्व-स्व कर्मानुसार ही एक देह से देहान्तर में गमन करना होता है॥६॥

अब जिज्ञासा यह उठती है कि बृ.उ. ६/२/१६ में शुभाशुभ आदि कर्म करने वाले लोगों को धूममार्ग से स्वर्गलोक में पहुँचने पर उसे 'देवों का अन्न' कहा गया है, देवगण उसका भक्षण करते हैं, ऐसी स्थिति में उन्हें कर्मफल भोग की प्राप्ति होती है, यह कैसे कहा जा सकता है? अगले सूत्र में इसी का समाधान प्रस्तुत किया जा रहा है—

(२९९) भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयति ॥७॥

सूत्रार्थ— अनात्मवित्त्वात् = आत्मज्ञानी न होने के कारण, वा = ही, भाक्तम् = उन्हें देवों का अन्न बतलाने वाली श्रुति गौण है (अर्थात् देवों का उपकरण-भोज्य बताना उचित नहीं), हि = क्योंकि, तथा = उस (उक्त) प्रकरण से भी, दर्शयति = श्रुति दर्शन कराती है।

व्याख्या— सकाम भावना से श्रेष्ठ कर्म करने वाले मनुष्य आत्मज्ञानी नहीं होते। इसलिए आत्मज्ञान की प्रार्थना करने हेतु गौण रूप से उन्हें देवों का अन्न एवं देवों के द्वारा उनका भक्षण करना कहा गया है, यद्यपि छा.उ. ३/६/१ में श्रुति कहती है कि देवगण न खाते हैं और न कुछ पान ही करते हैं, इस अमृत को देखने मात्र से ही तृप्त हो जाते हैं। उक्त उदाहरण से श्रुति का गौण भाव स्पष्ट है। उन श्रेष्ठ मनुष्यों को देवों का भोजन न मानकर मात्र सेवक ही मानना चाहिए। ऐसे ही भाव बृ.उ. १/४/१० में भी देखने को मिलते हैं- 'जो उस परब्रह्म को न जानकर दूसरे इतर देवों की उपासना में लगा रहता है, वह जैसे यहाँ लोगों के घरों में पशु होते हैं, उसी तरह ही वह देवों का पशु होता है, आत्मज्ञान की स्तुति हेतु ऐसा कहना सर्वथा उचित ही है।'

इसके अतिरिक्त वे शुभ कर्म करने वाले लोग देवों के साथ आनन्द का भोग करते हैं, इसका वर्णन बृह.उ. ४/३/३३ में इस प्रकार किया गया है-'पितृलोक पर विजय प्राप्त करने वालों की अपेक्षा सैकड़ों गुना आनन्द कर्मों से देवभाव को पाने वालों को होता है।' उक्त श्रुति वचनों से यह प्रमाणित होता है कि उनको देवों का अन्न कहा जाना वहाँ गौण रूप से है, यथार्थतः वहाँ जाकर वे अपने कर्मों का ही फल भोगते हैं और पुनः वहाँ से वापस लौट आते हैं, अतः जीव का एक शरीर से दूसरे शरीर में सूक्ष्म तत्त्वों के साथ जाना सर्वथा उचित है; क्योंकि इसमें किसी भी तरह का कोई विरोध नहीं है॥७॥

उपर्युक्त कथन में वर्णन आया है कि 'जब तक प्राणी के कर्मों का क्षय नहीं हो जाता, तब तक प्राणी (जीव) वहीं विद्यमान रहता है और पुनः वहाँ से इस लोक में वापस आ जाता है। अब जिज्ञासा होती है कि उसके समस्त कर्म पूर्ण

रूपेण समाप्त हो जाते हैं या कुछ कर्म शेष रहते हैं, जिन्हें साथ लेकर वह वापस होता है।' अगले सूत्र में आचार्य ने इसी का समाधान किया है—

(३००) कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ॥८ ॥

सूत्रार्थ— कृतात्यये = किये गये शुभ कर्मों के क्षीण होने पर, अनुशयवान् = शेष कर्म संस्कारों से सम्पन्न जीव, यथेतम् = जिस मार्ग से गया था उसी से, च = अथवा, अनेवम् = इससे पृथक् किसी दूसरे मार्ग से वापस होता है, दृष्टस्मृतिभ्याम् = श्रुति-स्मृतियों में भी ऐसा देखा जाता है।

व्याख्या— जीव (प्राणी) अपने द्वारा किये गये श्रेष्ठ कर्मों के पूर्णरूपेण क्षीण (समाप्त) हो जाने के उपरान्त वह स्वर्ग में स्थित जीवात्मा अनुशय अर्थात् शेष कर्म-संस्कारों से सम्पन्न होकर जिस मार्ग से गमन किया था, उसी मार्ग से या फिर किसी अन्य मार्ग से पुन: संसार में वापस आ जाता है। उसी अनुशय के भेद द्वारा ही जगत् में उसे विभिन्न योनियाँ प्राप्त होती हैं। श्रेष्ठ-पुण्य कर्म होने से श्रेष्ठ योनि और बुरे-अशुभ कर्म होने से निकृष्ट योनि का प्राप्त होना निश्चित मानना चाहिए। ऐसा ही वर्णन छा. उ. के ५ /१०/७ में इस प्रकार से मिलता है-श्रेष्ठ-शुभ आचरण वाले श्रेष्ठ योनि को और बुरे-निकृष्ट आचरण वाले (प्राणी) बुरी योनियों को प्राप्त करते हैं। यहाँ इस उद्धरण से यही स्पष्ट होता है और श्रुति-स्मृति आदि में भी जो यह वर्णन मिलता है कि जो वर्णाश्रमी मनुष्य अपने कर्मों में प्रतिष्ठित रहने वाले हैं, वे यहाँ से श्रेष्ठ-उत्कृष्ट स्वर्गादि लोकों में गमन कर वहाँ अच्छे-बुरे कर्मों का फल उपभोग कर अवशेष कर्मों के अनुसार श्रेष्ठ जन्म, कुल, रूप आदि को प्राप्त करते हैं। यही तथ्य गौतम स्मृति के अध्याय ११ के प्रथम सूत्र में भी स्पष्ट किया गया है। अत: प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार फल उपभोग के पश्चात् पुन: संसार में अपने अवशेष कर्मों के सहित जन्म ग्रहण करते हैं ॥८ ॥

अगले सूत्र में सूत्रकार प्रकारान्तर से विरोध का उत्थापन करके उसका निदान प्रस्तुत करते हैं—

(३०१) चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनि: ॥९ ॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि ऐसा कहा जाय कि, चरणात् = चरण शब्द के प्रयोग से (शेष कर्म संस्कारों के सहित वापस आने की बात उचित नहीं है), इति न = तो ऐसी बात नहीं है, उपलक्षणार्थ = क्योंकि वह कथन अनुशय (शेष कर्म संस्कारों) के उपलक्षण के निमित्त है, इति = ऐसा कथन, कार्ष्णाजिनि: = आचार्य **'कार्ष्णाजिनि'** का है, अत: कोई विरोध नहीं है।

व्याख्या— उक्त जिज्ञासा का समाधान सूत्रकार अपनी तरफ से न करके आचार्य कार्ष्णाजिनि का कथन प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि छा.उ. ५/१०/७ में वर्णित **'तद्य इह रमणीयचरणा: .....श्रुति में' 'चरण'** शब्द प्रयुक्त हुआ है, वह कर्म संस्कार के निमित्त प्रयोग में नहीं आता है। अत: इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि स्वर्गलोक से वापस लौटते समय अनुशय सहित अर्थात् भोगने से बचे (अवशेष) कर्म-संस्कारों के साथ ही लौटता है, तो यहाँ यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि वहाँ जो **'चरण'** शब्द आया है, वह अनुशय (शेष कर्म संस्कार) का उपलक्षण कराने वाला है अर्थात् यह प्रकट करता है कि प्राणी-जीवात्मा भोगने से बचे अवशेष कर्म-संस्कारों सहित ही वापस आता है। अत: आचार्य कार्ष्णाजिनि के कथनानुसार यहाँ कोई दोष नहीं है। यहाँ चरण (आचरण) और अनुशय (शेष कर्म संस्कार) दोनों एक ही अर्थ के बोधक हैं, यही मानना चाहिए ॥९ ॥

अगले सूत्र में आचार्य उपर्युक्त प्रकरण में पुन: जिज्ञासा प्रकट कर उसका समाधन दे रहे हैं—

(३०२) आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥१० ॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि यह कहो कि, आनर्थक्यम् = (बिना किसी कारण के उपलक्षण के रूप में यहाँ पर चरण शब्द प्रयोग) सार्थक नहीं है, इति न = तो ऐसा कहना ठीक नहीं है,

तदपेक्षत्वात् = क्योंकि कर्म आचरण से ही अपेक्षित है।

व्याख्या— आचार्य कहते हैं कि यदि यह कहो कि यहाँ 'चरण' शब्द को बिना किसी कारण के कर्म संस्कार का उपलक्षण स्वीकार कर लेना सार्थक नहीं है, अतः उपर्युक्त समाधान यहाँ उचित नहीं है, सो ऐसी बात नहीं है। उपर्युक्त समाधान सर्वथा उचित है; क्योंकि कर्म संस्कार रूप अनुशय (भुक्त अवशेष कर्म) पूर्वकृत शुभाशुभ आचरणों से ही विनिर्मित होते हैं। इसलिए कर्माशय के लिए आचरण आवश्यक है। अतः यहाँ 'चरण' शब्द का प्रयोग सार्थक है, निरर्थक नहीं है। कर्म से आचरण अपेक्षणीय है। सूत्रान्तर्गत 'तद्-अपेक्षत्वात्' में 'तत्' पद 'चरण' का परामर्श करता है। पूर्व सूत्र में 'अनुशय' को जन्म का कारण बतलाने पर छा.उ. ५/१०/७ में 'चरण' को जन्म का कारण कहना अनुचित नहीं है; क्योंकि अनुशय आचरण की अपेक्षा करता है। आचरण या कर्मानुष्ठान दोनों एक ही हैं। 'अनुशय' अदृष्ट (धर्माधर्म) और अवशेष कर्म संस्कारों का नाम है। आचरण के अभाव में अनुशय का होना असंभव है। शुभाशुभ कर्मानुष्ठान से धर्माधर्म रूप अनुशय निर्मित होता है। अतः अनुशय को जन्म का कारण बतलाने पर आचरण को कारण बतलाना सार्थक है। आत्मा के देह संयोग रूपी जन्म के समय यद्यपि अनुशय का अस्तित्व है, आचरण का नहीं; लेकिन आचरण के अभाव में अनुशय निर्मित नहीं हो सकता। अतः छा.उ. में जन्म के कारण रूप से 'चरण' का निर्देशन सार्थक ही है, निरर्थक नहीं॥१०॥

अगले सूत्र में सूत्रकार उक्त विषय के सन्दर्भ में समाधान हेतु आचार्य बादरि का मत प्रस्तुत करते हैं—

(३०३) सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥११॥

सूत्रार्थ— बादरिः = आचार्य बादरि, तु = तो, इति = ऐसा (कहते हैं कि), सुकृतदुष्कृते = यहाँ इस प्रकरण में शुभ और अशुभ कर्म, एव = ही 'चरण' के नाम से संबोधित किये गये हैं।

व्याख्या— आचार्य बादरि का कथन है कि यहाँ वर्णित 'चरण' शब्द सुकृत एवं दुष्कृत-इन दोनों के लिए प्रयुक्त किया गया है। आचार्य कहते हैं कि यहाँ उपलक्षण मानने की कोई जरूरत नहीं है। गत सूत्र में प्रयुक्त 'रमणीय चरण' शब्द पुण्य कर्मों और 'कपूयचरण' शब्द पाप कर्मवाची है। अतः यहाँ यही मानना चाहिए कि जो रमणीय चरण हैं, वे शुभ कर्माशय वाले हैं तथा जो कपूयचरण हैं, वे पाप कर्माशय वाले हैं, इससे यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा (प्राणी) अवशेष कर्म संस्कारों को साथ लिए हुए ही वापस लौटता है। लौकिक एवं वैदिक सभी तरह के कर्म जीवात्मा में जो संस्कार अथवा धर्माधर्म की स्थिति को विनिर्मित करते हैं, वे ही अगला जन्म ग्रहण करने के निमित्त बनते हैं। 'चरण' पद से इन सभी की अभिव्यक्ति होती है॥११॥

अगले सूत्र में शिष्य पुनः जिज्ञासा प्रकट करता है—

(२०४) अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम्॥१२॥

सूत्रार्थ— च = किन्तु (और), अनिष्टादिकारिणाम् = अनिष्ट अर्थात् बुरे-अशुभ आदि कर्म करने वाले लोगों का, अपि = भी (चन्द्रलोक में गमन करना), श्रुतम् = श्रुति में सुना जाता है।

व्याख्या— जिज्ञासु आशंका व्यक्त करते हुए कहता है कि श्रुति में अनिष्टादि कर्म करने वालों का भी चन्द्रलोक में गमन करने का वर्णन प्रायः सुना जाता है। कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् के प्रथम अध्याय के द्वितीय मंत्र में स्पष्ट उल्लेख इस प्रकार मिलता है- **'ये वैके चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति'** (कौ.ब्रा. उ.१/२) अर्थात् जो भी कोई प्राणी इस लोक से गमन करते हैं, वे सभी चन्द्र को ही प्राप्त करते हैं। इस तरह से यहाँ उक्त प्रकरण में कोई विशेषण न प्रदान कर सभी का चन्द्रलोक में जाना बतलाया गया है। इससे तो अशुभ कर्म करने वाले प्राणियों का भी स्वर्ग लोक में गमन करना सिद्ध होता है। अतः श्रुति में जो

यह वर्णन मिलता है कि इष्टापूर्त और दान आदि श्रेष्ठ कर्म करने वाले धूम-मार्ग से चन्द्रलोक में गमन करते हैं, उसके साथ उक्त श्रुति का विरोध प्रतीत होता है; अत: उसका निस्तारण फिर किस प्रकार होगा? इसी जिज्ञासा का समाधान अगले सूत्र में आचार्य करते हैं॥१२॥

उपर्युक्त सूत्र में व्यक्त की गई जिज्ञासा का समाधान आचार्य अगले सूत्र में करते हैं—

(३०५) संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात्॥१३॥

सूत्रार्थ— तु = तो (किन्तु), इतरेषाम् = शुभ कर्मियों से इतर-दूसरे अर्थात् पापकर्म में रत रहने वालों का, संयमने = यमलोक में, अनुभूय = पाप कर्मों का फल भोग लेने के उपरान्त, आरोहावरोहौ = चढ़ना और उतरना होता है, तद्गतिदर्शनात् = क्योंकि उनकी गति श्रुति में वैसी ही देखी जाती है।

व्याख्या— उक्त प्रकरण में पापकर्म में सन्नद्ध लोगों का चन्द्रलोक में गमन करना नहीं बतलाया गया है; क्योंकि श्रेष्ठ-शुभकर्मों के फलोपभोग हेतु ही स्वर्गलोक में प्राणी को गमन करना होता है। चन्द्रलोक में अशुभकर्मों के फलोपभोग की व्यवस्था नहीं होती; अत: यही मानना चाहिए कि श्रेष्ठ कर्म में रत-संलग्न लोग ही चन्द्रलोक में जाते हैं। उनसे भिन्न असत् कर्म में संलग्न जो पापी जन हैं, वे अपने असत् कर्मों के फलोपभोग हेतु यमलोक (नरक) में जाते हैं, वहाँ असत् कर्मों का फल भोगने के उपरान्त पुन: उनका निजकृत कर्मानुसार आना-जाना अर्थात् नरक से मृत्युलोक में आना और पुन: नवीन कर्मों के अनुसार स्वर्ग या नरक में जाना अर्थात् ऊर्ध्व या अधोगति को प्राप्त होना रहता है। उक्त लोगों की गति का ऐसा ही उल्लेख कठ.उ. १/२/६ में यमराज द्वारा इस प्रकार मिलता है- **'न साम्परायः .... पुनर्वशमापद्यते मे'** अर्थात् सम्पत्ति के अभिमान से आसक्त हुए सतत प्रमाद में रत अज्ञानी को परलोक नहीं दिखाई पड़ता। वह मानता है कि यह प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला लोक ही सत्य है, इतर अन्य कोई लोक नहीं, अत: ऐसा मानने वाला प्राणी (जीवात्मा) बारम्बार मेरे वशीभूत होता है। इस श्रुति प्रमाण से यही पुष्ट होता है कि श्रेष्ठ कर्म कर्त्ता ही पितृयान मार्ग से या फिर अन्य किसी मार्ग से स्वर्गलोक में जाता है और पापकर्म करने वाले प्राणी यमलोक (नरक) में जाते हैं। कौ.ब्रा. उ. १/२ में जिनके चन्द्रलोक में गमन के लिए कहा गया है, वे सभी श्रेष्ठ-शुभकर्म करने वाले लोग ही हैं; क्योंकि उक्त श्रुति में चन्द्रलोक से वापस आने की गति कर्म के अनुसार ही कही गई है। अत: उक्त दोनों श्रुतियों में किसी भी तरह का विरोधाभास नहीं है॥१३॥

उक्त तथ्य को और भी अधिक स्पष्ट करने हेतु सूत्रकार अगले सूत्र में स्मृति का प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं—

(३०६) स्मरन्ति च॥१४॥

सूत्रार्थ— च = और, स्मरन्ति = स्मृतियों में भी उक्त तथ्य का समर्थन किया गया है।

व्याख्या— स्मृतियाँ भी असत् कर्म करने वालों के लिए फल भोगने की व्यवस्था यमसदन में ही बतलाती हैं। म.स्मृ. के बारहवें अध्याय के शुरू के इक्यासी श्लोकों में भिन्न-भिन्न पाप गतियों का संक्षिप्त उल्लेख मिलता है। उसके बाद उन कर्मों का वर्णन है, जो अभ्युदय और नि:श्रेयस के साधन हैं। ऐसे श्रेष्ठ कर्मों के ज्ञान व अनुष्ठान हेतु वेद को वहाँ श्रेष्ठतम प्रमाण कहा गया है। अत: अभ्युदय आदि की प्राप्ति हेतु शास्त्र वर्णित मार्ग का अनुगमन सर्वोत्तम है। जो उस मार्ग का अनुगमन नहीं करते, वे अन्धकारमय योनियों में दु:ख भोगते हैं। इसी प्रकार से श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय १६ के ७ से १५ तक के श्लोकों में आसुरी स्वभाव वाले पापियों के लक्षणों का विस्तृत वर्णन करने के उपरान्त गीताकार १६ वें श्लोक में स्पष्ट करते हैं- 'वे पापी (जीवात्माएँ) विभिन्न तरह के विचारों से भ्रमित हुए मोह रूपी जाल में आबद्ध हुए एवं भोगों के उपभोग में रत हुए मूढ़जन कुम्भीपाक आदि अशुभ नरकों में गिरते हैं।' इस तरह से स्मृतियों के उल्लेख से भी उक्त तथ्य का

समर्थन प्राप्त होता है, अत: पापी (जीवात्माओं) प्राणियों का नरक में गमन होता है, स्वर्ग में नहीं, यही मानना उचित है ॥१४॥

अगले सूत्र में आचार्य प्रकारान्तर से उक्त तथ्य का ही प्रतिपादन करते हैं—

(३०७) अपि च सप्त ॥१५॥

सूत्रार्थ— च = और (इसके अतिरिक्त), सप्त = पापकर्मों का फल भोगने के लिए प्रमुख रूप से सात प्रकार के नरकों का, अपि = भी वर्णन मिलता है।

व्याख्या— उपर्युक्त सूत्र में व्यक्त किये गये प्रतिपादनों के अतिरिक्त पापकर्मों का फलोपभोग के लिए पौराणिक साहित्य में प्रमुख रूप से रौरव आदि सात प्रकार के नरकों का वर्णन मिलता है। ये नरक निम्नवत् हैं- रौरव, महारौरव, वह्नि, वैतरणी, कुम्भीपाक। ये पाँच नरक अनित्य नामक नरक के नाम से जाने जाते हैं और तामिस्र, अन्धतामिस्र नामक दो नित्य नरक कहलाते हैं। इनमें से अन्धतामिस्र नरक तामिस्र नरक से अधिक यातना वाला कहा गया है। इस प्रकार पापियों के फल भोगने के लिए इन्हीं सात प्रकार के नरकों का उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रकार पाप कर्मियों के स्वर्ग गमन की सम्भावना नहीं ही की जानी चाहिए ॥१५॥

नरकों में चित्रगुप्त आदि अन्य अधिकारी कहे गये हैं, तब फिर पापी लोग यमराज के अधिकार में दण्ड के भागी होते हैं, यह कैसे ? अगले सूत्र में इसी का समाधान किया जा रहा है—

(३०८) तत्रापि च तद्व्यापारादविरोध: ॥१६॥

सूत्रार्थ— च = और, तत्र = उन यातनास्थलों (नरकों) में, अपि = भी, तद्व्यापारात् = उस यमराज के अनुकूल, आज्ञानुसार कार्य होने से, अविरोध: = किसी भी तरह का विरोध नहीं है।

व्याख्या— कर्मफल के अन्तर्गत यातना-कष्ट भोगने के लिए जो रौरव आदि सप्त नरक उक्त सूत्र में कहे गये हैं और उन नरकों के चित्रगुप्त आदि अन्य अधिकारी निवास करते हैं, वे सभी यमराज के अनुकूल, आज्ञानुसार ही सभी कार्य करते हैं। इसलिए उन अधिकारियों के द्वारा किये गये कार्य भी यमराज के ही कार्य हैं। अत: यमराज के अधिकार में पापी प्राणियों के दण्ड भोगने हेतु जो भी बात कही गयी है, उसमें किसी भी तरह का कोई विरोध नहीं है ॥१६॥

इष्ट (यज्ञ) आदि शुभ कर्म न करने वाले लोग चन्द्रलोक को प्राप्त नहीं होते ? अगले सूत्र में आचार्य इसी विषय की अन्य प्रकार से सिद्धि बतलाते हैं—

(३०९) विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥१७॥

सूत्रार्थ— विद्याकर्मणो: = विद्या और शुभ कर्म-इन दोनों का, तु = तो ही, प्रकृतत्वात् = प्रकरण होने से, इति = ऐसा कहना ही उचित है।

व्याख्या— सूत्र में वर्णित 'विद्या' पद का अभिप्राय 'उपासना' है तथा इष्ट-यज्ञ आदि के लिए 'कर्म' पद का प्रयोग किया गया है। विद्या और श्रेष्ठ कर्म का जो लोग अनुष्ठान करते हैं, उनकी गति के दो मार्ग-देवयान और पितृयान श्रुति में कहे गये हैं। जिस तरह छान्दोग्योपनिषद् ५/१०/१ में विद्या और श्रेष्ठ कर्मों का फल बतलाने का प्रसङ्ग शुरू करके देवयान और पितृयान मार्ग का कथन किया गया है, उसी तरह से कौषीतकि ब्रा.उ. में भी विद्या (ज्ञान) एवं शुभ कर्मों का फल बतलाने के प्रकरण में ही उपर्युक्त कथन कहा गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो श्रेष्ठ कर्म करने वाले सत्पात्र अधिकारी जीव इस लोक से गमन करते हैं, वे सभी प्राणी चन्द्रलोक गमन के लिए ही अधिकृत होते हैं, असत् कर्म करने वाले नहीं; क्योंकि श्रुति में कहीं पर भी उनका उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। अत: श्रेष्ठ कर्मा ही चन्द्रलोक गमन के अधिकारी हैं, असत्कर्मा नहीं ॥१७॥

अब आशङ्का यह होती है कि कठ. उप. में जो पापियों के लिए यमलोक गमन की बात बतलायी गई है, वह

छा.उ. में वर्णित तृतीय गति के अन्तर्गत है या फिर उससे पृथक् ? इसी का समाधान यहाँ प्रस्तुत है—

(३१०) न तृतीये तथोपलब्धेः ॥१८॥

सूत्रार्थ— तृतीये = वहाँ वर्णित तृतीय गति में, न = (यमलोक गमन वाली गति का) अन्तर्भाव नहीं होता; तथा उपलब्धेः = क्योंकि उस उपलब्धि में ऐसा ही वर्णन मिलता है।

व्याख्या— विद्या एवं श्रेष्ठ कर्म करने वाले सत्पात्र लोगों के अलावा तीसरी श्रेणी के प्राणी अर्थात् असत् कर्म करने वालों के लिए अन्य किसी भी गति का नियम नहीं है। छान्दोग्योपनिषद् ५/१०/८ में यह वर्णन मिलता है- **'अथैतयोः पथोर्न कतरेण च तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानम्'** अर्थात् देवयान और पितृयान मार्गों में से किसी भी मार्ग द्वारा जो ऊर्ध्व के लोकों में गमन नहीं करते, वे क्षुद्र व बारम्बार जन्म लेने व मरने वाले जीव होते हैं, बार- बार 'उत्पन्न होओ और मृत्यु को प्राप्त होओ'- यह मृत्युलोक ही उन प्राणियों का तृतीय स्थान है। इस वर्णन से यहाँ यह स्पष्ट होता है कि उनका किसी भी परलोक में गमन नहीं होता, वे इसी मृत्युलोक में ही बारम्बार जन्मते व मरते रहते हैं। तृतीय स्थान वाले प्राणी स्वर्ग में गमन नहीं करते। अतः इस तीसरी गति में यम-यातना रूपी नरकलोक वाली गति का अन्तर्भाव नहीं है। इस उक्त विवरण से यह सिद्ध हो जाता है कि असत्कर्मा पापियों के लिए चन्द्रलोक में गमन करना असंभव है॥२८॥

उपर्युक्त तीन गतियों के अतिरिक्त चौथी गति, जिसके अन्तर्गत नरक यातना आदि का भोग भोगना पड़ता है और जो ऊपर वर्णित तीसरी गति से भी अधम गति कहलाती है, उस गति का उल्लेख कहाँ मिलता है ? इसी का समाधान आचार्य अगले सूत्र में करते हैं—

(३१०) स्मर्यतेऽपि च लोके ॥१९॥

सूत्रार्थ—लोके=लोक में, च= और, स्मर्यते = स्मृतियों में, अपि=भी उक्त तथ्यों का ही समर्थन किया गया है।

व्याख्या— पापी प्राणियों के निमित्त यम की दण्ड-व्यवस्था लोक समाज में कही जाती है, इसके साथ ही श्रुति-स्मृतियों में भी इसका उल्लेख मिलता है। श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय १४ के १८ वें श्लोक में इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है- 'सतोगुण में स्थित रहकर मृत्यु को प्राप्त होने वाले लोग ऊर्ध्व अर्थात् स्वर्गादि लोकों में गमन करते हैं। देवयान और पितृयान-ये दोनों मार्ग इसी में आते हैं। रजोगुण से युक्त प्राणी मध्य में अर्थात् मनुष्य लोक में जन्मते और मरते हैं, (यही बात छा.उ. ५/१०/८ में कही हुई तृतीय गति के अन्तर्गत आयी है।)' तमोगुण की वृत्ति से आवृत जीव नीचे के लोकों में जाते हैं। उक्त सूत्र में वर्णित तृतीय गति से जाने वाले अधम इस यम-यातना रूप गति को प्राप्त होते हैं। इसको गीता के अध्याय १६ के बीसवें श्लोक में इस तरह वर्णित किया गया है- 'हे अर्जुन! वे अज्ञानी मुझे न प्राप्त कर प्रत्येक जन्म में आसुरी योनि को पाते हैं; पुनः उससे भी अति निम्न गति अर्थात् घोर नारकीय यातनाओं में गिरते हैं।' इस तरह से यम यातनारूप अधोगति का उल्लेख स्मृति ग्रन्थों में मिलता है और यही मत लोक में भी प्रचलित है। पौराणिक उपाख्यानों में भी इसका विस्तार से वर्णन मिलता है। इसे ही अधोगति कहा गया है, अतः वहाँ से जो नारकीय प्राणियों का पुनः मृत्युलोक में आना है, वह पूर्वकथनानुसार ऊपर उठना है और पुनः नरक में जाना ही नीचे पतित होना है। जघन्य पापी जीव इन्हीं नारकीय लोकों को प्राप्त होते हैं॥१९॥

अगले सूत्र में आचार्य एक अन्य प्रमाण देकर पुनः उक्त तथ्य का प्रतिपादन करते हैं—

(३१२) दर्शनाच्च ॥२०॥

सूत्रार्थ— दर्शनात् = श्रुति में भी ऐसा ही उल्लेख देखने को मिलता है, च = इसलिए भी (यह मान्यता उचित है कि उक्त प्रकरण में कही हुई तीसरी गति में यम-यातना का अन्तर्भाव नहीं है।)

व्याख्या— श्रुतियों के अन्तर्गत भी प्राणी की अधम गति का उल्लेख प्राप्त होता है। ईशावास्योपनिषद्-३ के अनुसार- 'जो असुरों के प्रख्यात् लोक हैं, वे सभी अज्ञान एवं दु:ख-क्लेश रूप महान् अन्धकार से आवृत हैं, जो भी कोई अपनी आत्मा की हत्या करने वाले प्राणी हैं, वे मरने के उपरान्त उन्हीं भयानक लोकों को बारम्बार प्राप्त करते हैं।' इसी प्रकार अन्य उपनिषदों में भी उन नरकादि लोकों की प्राप्ति रूप गति का उल्लेख किया गया है। इस कारण भी यही प्रमाणित होता है कि उक्त सूत्र में व्यक्त की गई तीसरी गति में यम-यातना रूप गति का अन्तर्भाव नहीं है॥२०॥

अब आशङ्का यह होती है कि छा.उ. ६/३/१ में भूतों की तीन श्रेणियाँ-अण्डज (अण्डे से उत्पन्न), जरायुज (जेर से उत्पन्न) और उद्भिज्ज (धरती फोड़कर उत्पन्न होने वाले) कही गयी है; किन्तु अन्यत्र इनके चार भेद सुने जाते हैं। यहाँ चौथी स्वेदज (पसीने से उत्पन्न होने वाली श्रेणी) को क्यों नहीं कहा गया ? अगले सूत्र में इसी का समाधान आचार्य दे रहे हैं—

(३१३) तृतीयशब्दावरोध: संशोकजस्य॥२१॥

सूत्रार्थ— तृतीयशब्दावरोध: = तृतीय शब्द से अर्थात् तीसरे नाम वाली उद्भिज्ज जाति में संग्रह, संशोकजस्य = पसीने से उत्पन्न होने वाले (स्वेदज) भूतों-प्राणियों का (मानना चाहिए)।

व्याख्या— छा.उ. ६/३/१ में प्राणियों के तीन ही बीज-मौलिक वर्गों-अण्डज, जरायुज एवं उद्भिज्ज का उल्लेख प्राप्त होता है, किन्तु यहाँ स्वेदज अर्थात् पसीने से उत्पन्न होने वाले प्राणियों का वर्णन नहीं हुआ। सूत्रकार इसी का समाधान करते हुए कहते हैं कि यहाँ के तृतीय शब्द-उद्भिज्ज से ही स्वेदज का संग्रह हो जाता है। यह पद दोनों वर्गों का बोधक है, उसी एक समानता के आधार पर जिसको ऊपर कहा गया है। ये दोनों वर्ग सामान्यत: अयोनिज होते हैं। स्वेदज का यहाँ पर (श्रुति में) तृतीय नाम से कही हुई उद्भिज्ज जाति में अन्तर्भाव मानना चाहिए; क्योंकि उद्भिज्ज और स्वेदज-ये दोनों ही पृथिवी और जल के संयोग से प्रादुर्भूत होते हैं।

यद्यपि अन्यत्र श्रुतियों में चारों श्रेणियों का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। ऐतरेयोपनिषद् ३/३ में इसका इस प्रकार वर्णन किया गया है- '**बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि च ....**।' इसके अतिरिक्त यहाँ सूत्र में आया '**संशोकजस्य**' पद स्वेदज का बोधक है। पसीने से प्रकट होने से स्वेदज कहा गया है। ये दोनों पृथिवी और जल के संयोग से प्रकट होते हैं। इस प्रकार इन दोनों में पूर्ण रूपेण समानता है। उद्भिज्ज को स्थावर एवं स्वेदज को जंगम भी कहा जाता है॥२१॥

अब स्वर्गलोक से पुन: वापस आने की गति पर चिन्तन करने के लिए आगे का प्रकरण शुरू करते हैं। छा.उ.५/१०/५,६ में वर्णन मिलता है कि स्वर्ग से वापस लौटने वाले प्राणी सर्वप्रथम आकाश को पाते हैं, आकाश से वायु, धूम, मेघ आदि के क्रम से उद्भूत होते हैं। अब यहाँ आशङ्का यह होती है कि प्राणी उन-उन आकाशादि के रूप में स्वयं परिणत होते हैं या फिर उनेके सदृश हो जाते हैं ? इसी विषय का समाधान यहाँ प्रस्तुत है—

(३१४) तत्साभाव्यापत्तिरुपपत्ते:॥२२॥

सूत्रार्थ— तत्साभाव्यापत्ति: = उनके सदृश भाव (दशा) की प्राप्ति होती है, उपपत्ते: = क्योंकि यही बात युक्तिसंगत है।

व्याख्या— छान्दोग्योपनिषद् ५/१०/६ में प्राणी (जीवात्मा) को जो आकाश, वायु आदि बनकर पुन: वापस लौटने का प्रकरण आया है, इससे जीवात्मा का उन-उन तत्त्वों के रूप में परिणत होना युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि आकाशादि पूर्व से स्थित हैं तथा जीवात्मा जब एक के पश्चात् दूसरे भाव (स्थिति) को प्राप्त हो जाते हैं, तब उसके उपरान्त भी वे आकाशादि पदार्थ रहते ही हैं। अत: यही मानना न्यायोचित है कि वे उन आकाशादि

पदार्थों के सदृश बनकर वापस लौटते हैं। उनका आकाश के सदृश सूक्ष्मवत् हो जाना ही आकाश को प्राप्त करना है। ऐसे ही वायु आदि पदार्थों के सन्दर्भ में भी मान लेना चाहिए॥२२॥

अब आशङ्का यह होती है कि वे प्राणी उन-उन तत्त्वों के आकार में ज्यादा समय तक विद्यमान रहते हैं अथवा तत्क्षण ही क्रमिक गति से नीचे उतरते जाते हैं? इसी का समाधान अगले सूत्र में आचार्य कर रहे हैं—

(३१५) नातिचिरेण विशेषात्॥२३॥

सूत्रार्थ— विशेषात् = ऊपर जाने की अपेक्षा नीचे उतरने की दशा में भेद होने से, नातिचरेण = जीवात्मा उन आकाशादि के रूप में दीर्घकाल तक ऊपर न रहकर क्रमशः नीचे उतर आते हैं।

व्याख्या— स्वर्गादि ऊपर के लोक में जाने का जो उल्लेख मिलता है, वह कर्मों के फलोपभोग से सम्बन्धित है। अतः मध्य में आये हुए पितर आदि लोकों में विलम्ब होना भी स्वाभाविक है,किन्तु पुनः वापस लौटते समय कर्म भोग तो समाप्त ही हो जाते हैं। इसलिए मध्य (बीच) में कहीं पर विलम्ब होने का कारण नहीं रहता। इसके अतिरिक्त ऊपर जाने में गति का अवरोध रहने के कारण विलम्ब हो सकता है; परन्तु नीचे आने में गति की विशेषता से यही सिद्ध होता है कि लौटते समय मार्ग में विलम्ब नहीं होता॥२३॥

अब आशङ्का यह उठती है कि परलोक से वापस आने वाले उस प्राणी का जो जौ, तिल, धान एवं उड़द आदि के रूप में होना कहा गया है, यहाँ इसका क्या अभिप्राय है? क्या वह (प्राणी) स्वयं तदनुरूप हो जाता है या फिर उस योनि का उपभोग करने वाला कोई अन्य प्राणी होता है, जिसके साथ में यह प्राणी भी बना रहता है? इसी का समाधान यहाँ प्रस्तुत सूत्र में किया जा रहा है—

(३१६) अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात्॥२४॥

सूत्रार्थ— पूर्ववत् = पूर्व की ही भाँति, अभिलापात् = यह कथन कहा गया है इसलिए, अन्याधिष्ठितेषु = अन्य प्राणी अपने कर्मफल उपभोग के लिए जिन जौ, धान आदि में स्थित हैं; उनमें केवल सन्निधिमात्र से जीवात्मा (प्राणी) का निवास है।

व्याख्या— जिस प्रकार से पूर्व सूत्र में यह कहा गया है कि वह पुनः वापस आने वाला जीवात्मा(प्राणी) आकाश आदि के रूप में परिणत नहीं होता, उनके अनुरूप होकर ही उन आकाशादि से संयुक्त होता है, वैसे ही यहाँ सूत्र में धान, जौ आदि के सन्दर्भ में भी जानना चाहिए; क्योंकि यह कथन पूर्ववत् ही है। अतः उक्त प्रतिपादन से यह प्रमाणित होता है कि उन धान, तिल, उड़द आदि में अपने कर्मों का फल प्राप्त करने हेतु जो दूसरे प्राणी पूर्व से ही विद्यमान हैं, उनके रहते हुए ही यह चन्द्र (स्वर्गलोक) से वापस लौटने वाला प्राणी उसके साथ-साथ पुरुष के उदर में प्रविष्ट हो जाते हैं। वह (प्राणी) धान, तिल, जौ आदि स्थावर जड़ योनियों को नहीं प्राप्त करता है॥२४॥

अगले सूत्र में आचार्य उक्त प्रकरण में आशङ्का व्यक्त करके पुनः उसका निस्तारण करते हैं—

(३१७) अशुद्धमिति चेन्न शब्दात्॥२५॥

सूत्रार्थ—चेत् = यदि यह कहें कि, अशुद्धम् = (प्राणी का धान आदि में निवास होने से उसे पकाना आदि तो) अशुद्ध-पापकर्म होगा, इति न = तो ऐसी बात नहीं है, शब्दात् = श्रुति वचन के द्वारा इसकी निर्दोषिता प्रमाणित होती है।

व्याख्या— यदि यह आशङ्का करें कि अनाज के हर दाने में जीवात्मा का निवास बना रहता है, तो इस मान्यता के अनुसार अन्न को कूटना, पीसना, पकाना और ग्रहण करना (खाना) तो बड़ा अशुद्ध-पाप कर्म होगा, क्योंकि उसमें अनेकों प्राणियों की हिंसा करने पर कम से कम एक प्राणी की क्षुधा पूर्ति होगी, तो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि इस प्रकरण के अन्तर्गत छान्दोग्योपनिषद् ३६/६/२ में पुरुष को 'अग्नि' बतलाकर उसमें

अन्न का यजन करना कहा गया है। इसके साथ ही श्रुति में जगह-जगह पर अन्न के ग्रहण करने का उल्लेख मिलता है। इसलिए श्रुति का विधि-विधान होने से उसमें हिंसा नहीं होती और उन प्राणियों की उस अवधि में सुप्तावस्था बनी रहती है। जब वे धरती एवं जल के सम्बन्ध से उगते (उत्पन्न होते) हैं, तब उनमें चेतना आती है और तभी सुख-दुःख का ज्ञान होता है, इससे पहले नहीं होता। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्न ग्रहण करने में हिंसा नहीं है॥२५॥

'अन्न से संयुक्त होने के पश्चात् वह किस तरह से कर्मफल भोग के लिए देह धारण करता है? अगले सूत्र में आचार्य इसी तथ्य को प्रतिपादित कर रहे हैं—

(३१८) रेतः सिग्योगोऽथ॥२६॥

सूत्रार्थ— अथ = उसके पश्चात्, रेतः सिग्योगः = वीर्य का सेचन करने वाले पुरुष के साथ उसकी संङ्गति होती है।

व्याख्या— उसके उपरान्त वह प्राणी अन्न के सहित 'पुरुष' के उदर में जाकर उसके वीर्य में समाहित होकर उस 'पुरुष' से संयुक्त होता है। यहाँ इस प्रकरण से यह प्रमाणित हो जाता है कि आकाशादि से लेकर अन्न तक सभी जगह मात्र संयोग से ही उसका आकारवत् होना बतलाया गया है, स्वरूप से नहीं।

छान्दोग्योपनिषद् ५/१०/६ के अन्तर्गत कहा गया है कि 'जो-जो अन्न खाता है, जो वीर्य सेचन करता है, वही रूप अनुशयी (कर्मफल भोक्ता) आत्मा का हो जाता है।' श्रुति में वर्णित **'तद्भूय एव भवति'** का यह भाव नहीं कि अद्यमान (खाये जाते हुए) अन्न के सहित संपृक्त अनुशयी आत्मा रेतः सेक्ता का स्वरूप बन जाता है। यद्यपि रेतः सेक्ता पृथक् आत्मा है और अनुशयी पृथक्। एक आत्मा अन्य आत्मा नहीं बन सकता। अतः वाक्यांश का यही भाव है कि अनुशयी आत्मा अद्यमान अन्न के सहित जिस योनि (जाति) के रेतः सेक्ता से संयुक्त होकर पुरुष के उदर में प्रविष्ट हो जाता है और उसी योनि का शरीर प्राणी धारण करता है। अतः जैसे अनुशयी आत्माओं का व्रीह्यादि भाव व्रीहि आदि के साथ संपर्क मात्र है। इसी तरह **'रेतः सिग्भाव'** रेतः सेक्ता के साथ मात्र संपर्क ही मानना चाहिए।

अगले सूत्र में पुनः आचार्य उपर्युक्त प्रकरण के बाद का क्रम प्रस्तुत करते हैं—

(३१९) योनेः शरीरम्॥२७॥

सूत्रार्थ— योनेः = योनि में प्रविष्ट होने के पश्चात्, शरीरम् = (वह प्राणी कर्मफल भोग के अनुरूप) देह की प्राप्ति करता है।

व्याख्या— इस प्रकार वह जीवात्मा स्वर्ग से पुनः वापस आने वाला सर्वप्रथम पुरुष के वीर्य में समाहित हो जाता है। इसके उपरान्त इस पुरुष के द्वारा गर्भाधान काल में स्त्री की योनि में वीर्य के सहित प्रवेश करा दिया जाता है। वहाँ गर्भक्षेत्र से सम्बद्ध होकर जीवात्मा अपने कर्मफल के अनुसार नवीन देह को प्राप्त करता है और यहीं से उसके कर्मों के फल का भोग प्रारम्भ हो जाता है। इससे पूर्व स्वर्ग से नीचे उतरकर वीर्य में समाहित होने तक उस (प्राणी) का कोई जन्म अथवा देह धारण करना नहीं होता है। केवल उसे उन-उन आकाश, वायु आदि के अवलम्बन में रहना ही बतलाया गया है। उन धान, जौ आदि शरीरों के अधिष्ठाता कोई अन्य प्राणी (जीवात्मा) ही हैं॥२७॥

॥ इति तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः॥

॥ अथ तृतीयाध्याये द्वितीयः पादः ॥

द्वितीय पाद के अन्तर्गत वर्तमान देह की अलग-अलग विभिन्न अवस्थाओं पर विचार करके इस जन्म-मृत्यु रूप सांसारिक-बन्धनों से मुक्ति हेतु परब्रह्म का ध्यान रूप उपाय बतलाया गया है। अत: सर्वप्रथम स्वप्नावस्था पर विचार शुरू करते हुए नीचे के दो सूत्रों में आचार्य पूर्वपक्ष की उत्थापना प्रस्तुत करते हैं—

(३२०) संध्ये सृष्टिराह हि ॥१ ॥

सूत्रार्थ— संध्ये = स्वप्न में भी जाग्रत् की तरह, सृष्टि: = सांसारिक कार्यों-पदार्थों की सृष्टि होती है, हि = क्योंकि, आह = श्रुति का कथन ऐसा ही है।

व्याख्या— स्वप्नावस्था में जीवात्मा के द्वारा लोक और परलोक दोनों के देखने का प्रकरण श्रुति में आया है। बृहदारण्यकोपनिषद् ४/३/९ में वर्णन मिलता है कि 'स्वप्नावस्था में यह जीव लोक-परलोक दोनों का दर्शन करता है। वहाँ दु:ख और आनन्द दोनों का उपभोग करता है। वह इस स्थूल देह को स्वयमेव अचेत करके वासना युक्त नवीन देह की संरचना करके इस जगत् का दर्शन करता है। इसी उपनिषद् के अगले सूत्र (४/३/१०) में ऋषि कहते हैं- 'उस अवस्था में वास्तव में न होते हुए भी रथ, रथ को ले जाने वाले वाहन एवं उसके मार्ग की, आनन्द, आमोद-प्रमोद की, कुण्ड, सरोवर और नदियों की संरचना कर लेता है। ऐसे ही अन्य श्रुतियों (प्र.उ.४/५ व बृह.उ. २/१/१८) में भी स्वप्नकाल में सृष्टि की सर्जना होना बतलाया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि जाग्रत् के समान स्वप्नकाल में भी जीव संरचना कार्य करता है। जाग्रत्-अवस्था में जिन साधन-सुविधाओं की आवश्यकता होती है, स्वप्नावस्था में उनकी आवश्यकता नहीं होती ॥१ ॥

अगले सूत्र में आचार्य उपर्युक्त विषय में एक अन्य हेतु का निर्देश प्रस्तुत करते हैं—

(३२१) निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥२ ॥

सूत्रार्थ— च = और, एके = एक शाखा वाले विद्वान्, निर्मातारम् = जीवात्मा (पुरुष) को इच्छित कार्यों का निर्माता मानते हैं, च = तथा, पुत्रादय: = पुत्र आदि ही 'काम' अर्थात् कामना के विषय हैं।

व्याख्या— एक शाखा वाले विद्वान् जीवात्मा-पुरुष को काम-वासना आदि का निर्माण करने वाला स्वीकारते हैं। कठोपनिषद् २/२/८ में ऋषि कहते हैं- **'य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाण:'** अर्थात् 'यह विभिन्न प्रकार के भोगों की संरचना करने वाला पुरुष अन्य सभी के सो जाने पर स्वयं ही जाग्रत् अवस्था में रहता है।' इस कथन में पुरुष को कामनाओं का निर्माता बतलाया गया है। क.उ. १/१/२३-२४ में वर्णन मिलता है कि पुत्र-पौत्र आदि ही 'काम' अर्थात् कामना के विषय हैं। इस प्रकार उक्त उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि स्वप्नावस्था में भी सृष्टि है ॥२ ॥

उपर्युक्त दोनों सूत्रों में पूर्वपक्षी के द्वारा स्वप्न की सृष्टि को सत्य सिद्ध करने का प्रयास किया गया है और उसे जीवात्मा के द्वारा किया हुआ कहा गया है। अब अगले सूत्र में आचार्य सिद्धान्त पक्ष की ओर से समाधान करते हैं—

(३२२) मायामात्रं तु कात्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥३ ॥

सूत्रार्थ— तु = परन्तु, कात्स्न्येन = पूरी तरह से, अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात् = उसके स्वरूप की अभिव्यक्ति (प्रकटीकरण) न होने से, मायामात्रम् = वह एकमात्र माया ही है।

व्याख्या— जीवात्मा स्वप्नावस्था में जिन-जिन पदार्थों की संरचना करता है अथवा देखता व श्रवण करता है, उसमें स्थायित्व न होने के कारण उन-उन पदार्थों या दृश्यों की प्राप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि स्वप्न तो संकल्पों की अभिव्यक्ति मात्र है। अत: उसे केवल माया कहना ही उचित प्रतीत होता है। प्रश्नोपनिषद् में तो स्पष्ट वर्णन मिलता है कि जाग्रत् अवस्था में सुनी हुई, देखी हुई तथा अनुभव की हुई वस्तुएँ स्वप्नावस्था में

विचित्र ढङ्ग से दृष्टिगोचर होती हैं। स्वप्नकाल में न देखी, न सुनी अथवा अनुभव न की हुई वस्तुओं-पदार्थों को भी वह देखता है। इन सभी कारणों से भी स्वप्न की सृष्टि का माया मात्र होना ही प्रमाणित होता है, जाग्रत् की तरह से सत्य नहीं। यही कारण है कि स्वप्नकाल में किये हुए शुभाशुभ कर्मों के फल प्राणी को नहीं भोगने पड़ते। उपर्युक्त सूत्र में जीवात्मा को कामेच्छाओं का निर्माता माना गया है, सो यह मान्यता उचित नहीं है; क्योंकि वहाँ सूत्र में स्वप्नावस्था का उल्लेख नहीं मिलता। वहाँ तो यह विशेषण जीवात्मा के लिए न प्रयुक्त होकर एकमात्र सर्वनियन्ता परब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुआ है॥३॥

उपर्युक्त कथानक से प्रमाणित होता है कि स्वप्न सर्वथा व्यर्थ है, उसकी कोई सार्थकता नहीं है। अगले सूत्र में आचार्य इस कथन पर एक अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

(३२३) सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः॥४॥

सूत्रार्थ— सूचकः = स्वप्न भविष्य के शुभाशुभ परिणाम का सूचक, च = भी है, हि = क्योंकि, श्रुतेः = श्रुति भी यही कहती है, च = और, तद्विदः = स्वप्न विषयक शास्त्र के ज्ञाता, आचक्षते = भी ऐसा ही कहते हैं।

व्याख्या— भविष्यत्काल में घटित होने वाले शुभाशुभ कर्मफल की जानकारी भी स्वप्नावस्था में प्राप्त हो जाती है; क्योंकि स्वप्न को भविष्य-सूचक कहा गया है और स्वप्न-विषयक निष्णात विद्वज्जन भी ऐसा ही कहते हैं। छान्दोग्योपनिषद् ५/२/९ में वर्णन मिलता है- '**यदाकर्मसु ....स्वप्ननिदर्शने**' अर्थात् जब स्वप्न काल में काम्य कर्म का अनुष्ठाता किसी सौभाग्यवती स्त्री को देखे, तो ऐसे स्वप्न देखने का परिणाम यह मानना चाहिए कि उस कृत कर्म में सम्यक् रूपेण अभ्युदय होने वाला है। कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् में इसका वर्णन इस प्रकार है- 'जो स्वप्नकाल में किसी काले रंग व काले दाँत से युक्त पुरुष को देखता है, वह उसके द्वारा मृत्यु को प्राप्त करता है। स्वप्न विद्या के निष्णात मनीषीगण स्वप्नावस्था में हाथी पर सवार होना शुभ और गधे पर सवार होने को अशुभ मानते हैं। ऐतरेय आरण्यक ३/२/४/१४ आदि श्रुति वचनों के प्रमाण द्वारा प्रमाणित होता है कि स्वप्न सदैव व्यर्थ नहीं होते, वह आगामी फलों के सूचक भी होते हैं। उक्त प्रमाणों से यह भी सिद्ध होता है कि स्वप्न की घटना जीवात्मा की स्वतन्त्र संरचना नहीं है, वह तो निमित्त मात्र है। वस्तुतः सभी कुछ जीवात्मा के कर्मानुसार उस परब्रह्म की शक्ति के द्वारा ही सम्पन्न होता है। इस प्रकार स्वप्नकाल में देखे हुए दृश्यों का शुभाशुभ सूचक होना सिद्ध होता है॥४॥

जीवात्मा भी तो परमात्मसत्ता का अंश है, अतः इसमें परब्रह्म के ज्ञान और ऐश्वर्य आदि गुण भी आंशिक रूप से विद्यमान होंगे ही। तब फिर यदि ऐसा मान लिया जाये कि स्वप्न की संरचना जीव स्वयं करता है तो क्या आपत्ति है? अगले सूत्र में आचार्य इसी को स्पष्ट करते हैं—

(३२४) पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ॥५॥

सूत्रार्थ— तु = किन्तु, तिरोहितम् = (जीवात्मा में ईश्वर के सदृश गुण) छिपे हुए (आवृत) हैं, पराभिध्यानात् = अतः परब्रह्म का सतत ध्यान करने से (वे गुण प्रकट हो जाते हैं); हि = क्योंकि; ततः = उस ब्रह्म के द्वारा ही, अस्य = इसका (जीव का), बन्धविपर्ययौ = बन्धन और उसके विपरीत अर्थात् मुक्ति है।

व्याख्या— जीवात्मा परब्रह्म ईश्वर का अंश है, अतः यह भी ईश्वर के समान गुणों से युक्त है। इसमें किसी भी तरह का संशय नहीं है; किन्तु जीवात्मा स्वकर्मानुसार और इस सांसारिक जगत् में स्थित माया के चक्र में भ्रमित होकर उन गुणों को भूला रहता है तथा उसके वे उत्तम गुण छिपे रहते हैं। इसलिए उनका उपयोग देखने को नहीं मिलता। जब यह जीव उस परब्रह्म का सतत ध्यान आदि सत्कार्यों को करता रहता है, तब उसमें छिपे हुए गुण स्वतः ही प्रकट हो जाते हैं। श्वेताश्वतर १/११ एवं ६/१६ के अनुसार उन गुणों का प्राकट्य ईश्वर का ध्यान करने से ही सम्भव है। परब्रह्म की आराधना के अभाव में अपने-आप उन गुणों का प्रकट होना

असंभव है, क्योंकि इस जीवात्मा का अनादि सिद्ध बन्धन एवं उससे मुक्ति को प्राप्त करना उस जगन्नियन्ता परब्रह्म के ही द्वारा सम्भव है। अत: वह (जीव) स्वयं स्वप्न की सृष्टि संरचना आदि कुछ भी करने में सर्वथा समर्थ नहीं हो सकता॥५॥

अब जिज्ञासा यह उठती है कि जीव के जो वास्तविक ईश्वर सम्बन्धी गुण हैं, वे छिपे हुए क्यों हैं ? अगले सूत्र में आचार्य इसी का समाधान प्रस्तुत करते हैं—

(३२५) देहयोगाद्वा सोऽपि॥६॥

सूत्रार्थ— सः = वह तिरोभाव अर्थात् गुणों को आवृत करना, अपि = भी, देहयोगात् = देह के सम्बन्ध से, वा = ही है।

व्याख्या— जीवात्मा जब देह के साथ अपनी एकात्मता स्थापित कर लेता है, तब वह परब्रह्म परमेश्वर के तत्त्वों से विस्मृत हो जाता है। इसी कारण उसके छिपे हुए गुण प्रकट नहीं हो पाते। जब तक जीवात्मा इस माया के आवरण से अलग नहीं हो जाता, तब तक उसके गुण छिपे ही रहते हैं। इससे उस जीवात्मा को बारम्बार कर्म-बन्धन में पड़कर जीवन-मृत्यु के चक्र में भ्रमण करना पड़ता है और वह तरह-तरह के सुख-दु:ख आदि द्वन्द्वों का उपभोग करता रहता है॥६॥

सूत्र क्र. छः तक जीवात्मा की स्वप्नावस्था का निरूपण किया गया। प्रसङ्गवश बन्धन और मुक्ति के उपाय का भी संक्षिप्त वर्णन किया गया । अब अगले सूत्र से जीवात्मा की सुषुप्तावस्था पर विचार करते हैं। सामान्यतः सुषुप्तावस्था में जीव का ब्रह्म से संयोग होता है, इससे यह भ्रान्ति हो सकती है कि सुषुप्ति भी समाधि की भाँति कोई सुखप्रद स्थिति है ? इसी भ्रम का निवारण आचार्य यहाँ प्रस्तुत करते हैं—

(३२६) तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च॥७॥

सूत्रार्थ— तदभाव: (सुप्तावस्था में) उस स्वप्न-दृश्य का अभाव हो जाता है (और उस समय जीव), नाडीषु = नाड़ियों में (अवस्थित हो जाता है), च = और, आत्मनि = आत्मा में भी उसकी स्थिति बनी रहती है, तच्छ्रुतेः = क्योंकि श्रुति का भी वैसा ही कथन है।

व्याख्या—उपर्युक्त सूत्रों में जो स्वप्नावस्था का उल्लेख किया गया है, उसमें जीवात्मा के जागने, सोने एवं स्वप्नावस्था में बने रहने आदि की बात बतलाई गई है। बृह.उ. (४/३/१० से १८ तक) में जीवात्मा की इसी अवस्था का वर्णन मिलता है। इस तरह से स्वप्नगत मानसिक सुख-दु:खों का उपभोग करते-करते कभी सुषुप्तावस्था की प्राप्ति हो जाने पर स्वप्न दृश्यों का अभाव हो जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि वे माया मात्र ही हैं; क्योंकि बाह्य जगत् का अभाव नहीं होता। उसका कार्य यथावत् चलता रहता है और जीव का शरीर भी सुरक्षित रहता है,अत: उसका यहाँ सत् होना सिद्ध होता है। उस समय जीव को इस प्रपञ्च के उपभोग से आराम मिलता है तथा देह एवं इन्द्रियों की थकावट दूर होती है। सुषुप्तावस्था के आने पर जीव की स्थिति कैसी और कहाँ रहती है, इस सन्दर्भ में बृह.उ.२/१/१९ में ऋषि कहते हैं- 'जब जीव सुषुप्तावस्था को प्राप्त होता है, तब वह कुछ भी नहीं जानता। इसके शरीर में जो बहत्तर हजार नाड़ियाँ हृदय से निकलकर सम्पूर्ण देह में व्याप्त हो रही हैं, उनमें फैलकर यह समस्त शरीर में व्याप्त हुआ शयन करता है। छान्दोग्योपनिषद् ८/६/१० में भी ऐसा ही वर्णन मिलता है- 'जब जीवात्मा शयन करता हुआ किसी तरह का स्वप्न नहीं देखता, सभी तरह से सुखी होकर नाड़ियों में संव्याप्त हो जाता है। उस अवधि में उसे कोई पाप स्पर्श नहीं कर सकते। ' इसका अभिप्राय यह हुआ कि उस समय अज्ञात में इसके शरीर की क्रिया द्वारा किसी जीव आदि की हिंसादि पापकर्म हो जाये, तो वह पाप उसे नहीं लगता।

उक्त उदाहरणों से ज्ञात होता है कि नाड़ियों का मूल और इस जीवात्मा एवं परब्रह्म का निवास स्थान

हृदय है, उसी जगह सुषुप्ति में जीव सोता है। अत: उसकी स्थिति हृदय में स्थित नाड़ियों में और परब्रह्म में भी कही जा सकती है। इसमें कोई विरोध नहीं है। स्थान की एकात्मता के कारण ही कहीं उसको ब्रह्म की प्राप्ति, तो कहीं प्रलय की भाँति परब्रह्म के साथ संयुक्त होना आदि कहा गया है; किन्तु इससे यह नहीं मान लेना चाहिए कि यह भी समाधि की तरह मोक्ष प्राप्ति में सहयोगी होगा। अत: शरीर रक्षा के लिए कम से कम आवश्यक समय तक ही शयन करना चाहिए, श्रेष्ठ सुख की बुद्धि से नहीं। प्र.उ. ४/६ में ऋषि कहते हैं- 'वह मन जब तेज (उदानवायु) से दब जाता है अर्थात् उदानवायु इन्द्रियों के सहित मन को हृदय में ले जाकर मोहित कर देता है, तब जीव की सुषुप्तावस्था होती है। उस समय जीव स्वप्न को नहीं देखता। इस देह में जीव को यह सुषुप्तिजनित सुख प्राप्त होता है॥७॥

सुषुप्तावस्था के समय परब्रह्म के साथ हृदय क्षेत्र में जीव की जो दशा कही गयी है, आचार्य अगले सूत्र में उसी का प्रतिपादन करते हैं—

(३२७) अत: प्रबोधोऽस्मात्॥८॥

सूत्रार्थ— अत: = इसलिए, अस्मात् = यहाँ (इस आत्मस्वरूप से), प्रबोध: = जीवात्मा का जाग्रत् होना - जागना (श्रुति में बतलाया गया है)।

व्याख्या— श्रुति में वर्णन मिलता है कि सुषुप्तावस्था में जीवात्मा हृदय में प्रतिष्ठित रहता है। जो वस्तु या पदार्थ जिसमें विलीन हो जाता है, उसका वहीं से उद्भव भी निश्चित होता है। इस न्याय से जीव सुषुप्ति की अवस्था समाप्त होने पर जब जाग्रत् होता है, तब वहाँ से अर्थात् परब्रह्म के वास-स्थल हृदय से ही जाग्रत् होता है, अत: उसके विलय होने का स्थल भी वही है। ऐसा स्वत: ही प्रमाणित हो जाता है। यहाँ जगना (जाग्रत् होना) उस परब्रह्म की व्यवस्था से होता है। जितने काल तक उसके प्रारब्ध के अनुसार सुषुप्ति का सुख भोग होना चाहिए, उतने समय के पूर्ण होने के पश्चात् उस परब्रह्म की नियम-व्यवस्था से जीव जाग्रत् हो जाता है। यही भाव यहाँ भी मानना चाहिए॥८॥

अब आशंका यह होती है कि जो जीवात्मा सुषुप्ति-काल में विलय को प्राप्त होता है और वही जाग्रत् होकर वापस आता है अथवा देह के किसी अङ्ग में पड़ा हुआ कोई अन्य जीव ही जाग्रत् होता है ? अगले सूत्र में इसी आशंका का समाधान किया जा रहा है—

(३२८) स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्य:॥९॥

सूत्रार्थ— तु = तो निस्संदेह, स एव = वह जीवात्मा ही (जागता है); क्योंकि, कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्य: = कर्म, अनुस्मृति, शब्द-वेद प्रमाण कर्म करने की सिद्धि तभी संभव होगी, अत: यही मानना उचित है।

व्याख्या— जो जीव शयन करता है, वही जागता है। शयन दूसरा करता है और जागता दूसरा है, ऐसा मान लेने में विभिन्न तरह के प्रचुर परिमाण में दोष आते हैं। अत: वैसा नहीं स्वीकारा जा सकता; क्योंकि प्राय: यह देखा जाता है कि व्यक्ति पहले दिन जिस कार्य को शुरू करता है,उसके अवशेष की पूर्ति दो-तीन दिनों तक यथावत् करता रहता है। आधा कार्य दूसरे ने किया हो और शेष आधे कार्य को अपने द्वारा ही छोड़ा हुआ मानकर उसे पूर्ण करे, यह असम्भव है और जागने के पश्चात् पूर्व की सभी बातों की स्मृति के साथ-साथ यह याददाश्त भी स्वत: होती ही है कि जो अब तक शयन कर रहा था, वही मैं अब जाग्रत् हुआ हूँ। अन्य जीव की कल्पना करने से किसी भी तरह इसकी समानता नहीं हो सकती। बृ.उ. ४/३/१६ में भी यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि जो शयन करता है, वही जाग्रत् होता है। इसके साथ ही वेदों में जो कर्म करने का आदेश दिया गया है, उसकी सार्थकता भी जो शयन करता है, उसी के जगने से होगी; क्योंकि एक को दिये हुए आदेश का दूसरा कैसे पालन कर सकेगा। उपर्युक्त समस्त प्रतिपादनों से यही प्रमाणित होता है कि जो जीव सुषुप्ति-काल

में सोता है (शयन करता है), वही जागता है ॥९ ॥

व्यक्ति जब किसी औषध आदि के सेवन से बेहोश-मूर्छित हो जाता है या अन्य किन्हीं बीमारी आदि कारणों से अचेत हो जाता है, तब उस अवधि में उसे न तो बाह्य जगत् का ज्ञान रहता है, न स्वप्न देखता है, और न ही सुख का अनुभव करता है, वह कौन सी अवस्था है? अगले सूत्र में आचार्य इसी आशंका का समाधान करते हैं—

(३२९) मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिः परिशेषात् ॥१० ॥

सूत्रार्थ— मुग्धे: = मूर्छित अवस्था में, अर्द्धसम्पत्तिः = सुषुप्ति की आधी-अधूरी अवस्था माननी चाहिए; क्योंकि, परिशेषात् = यही शेष अवस्था है; अन्य कोई अवस्था शेष नहीं है।

व्याख्या— जीवात्मा की जन्म के पश्चात् एवं मृत्यु के पूर्व तीन प्रमुख अवस्थाएँ- जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति बतलाई गयी हैं। यह मुग्धावस्था कभी-कभी किन्हीं विशेष कारणों से ही किसी को प्राप्त होती है। इस अवस्था के लक्षण सुषुप्ति की तरह के होते हैं। इसमें आधी सुषुप्ति और आधी जाग्रत् जैसी अवस्था होती है। उस काल में प्रसन्न मुख, उन्मीलित नेत्र; किन्तु चेहरा विवर्ण दिखलाई देने से उसे सोता-जागता कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इसलिए इसे अधूरी सुषुप्ति मानना ही उचित होगा; क्योंकि उस अवस्था में सुषुप्ति का कोई सुख-लाभ नहीं प्राप्त होता। एकमात्र अज्ञान में ही सुषुप्ति से इसकी समानता मिलती है; अतः इस मुग्धावस्था को पूरी तरह से सुषुप्ति न कहकर अर्ध-सुषुप्ति कहा गया है ॥१० ॥

ईश्वर का क्या स्वरूप है? इसके निर्णय हेतु अगला प्रकरण शुरू किया जाता है। यहाँ जिज्ञासा यह होती है कि श्रुति में कहीं परब्रह्म को सर्वथा निर्विशेष निर्गुण कहा गया है। कहीं उसे सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वसाक्षी एवं सभी प्राणियों की उत्पत्ति एवं प्रलय का कारण बतलाया गया है। कहीं उसे सर्वव्यापी और कहीं अङ्गुष्ठ मात्र कहा गया है? तथा हृदय आदि जिन-जिन स्थानों में ईश्वर की स्थिति कही गई है, उनके दोषों से वह लिप्त होता है या नहीं? इन्हीं आशंकाओं का समाधान इस सूत्र में प्रस्तुत किया जा रहा है—

(३३०) न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥११ ॥

सूत्रार्थ— स्थानतः = स्थान के सम्बन्ध से, अपि = भी, परस्य = परब्रह्म परमेश्वर का, न = किसी भी तरह के दोष से संसर्ग नहीं होता, हि = क्योंकि, सर्वत्र = सभी श्रुति-वाक्यों में उस परब्रह्म को, उभयलिङ्गम् = दोनों प्रकार के लक्षणों से सम्पन्न कहा गया है।

व्याख्या— परब्रह्म परमात्मा को श्रुतियों ने दो लक्षणों से युक्त बतलाया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् के ३/१९ में जहाँ ईश्वर को निर्विशेष कहा है; वहीं उसी प्रकरण में उसे विभिन्न प्रकार के दिव्य गुणों से सम्पन्न कहा है। इसके जो भी दिव्य गुण कहे गये हैं, वे जीव और प्रकृति-दोनों से विलक्षण हैं। कठ.उ. १/२/२०-२१ में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया गया है- 'इस जीवात्मा के हृदय रूपी गुहा में रहने वाला ईश्वर अणु से अणुतम और महान से महानतम है।' 'वह ब्रह्म स्थिर रहते हुए भी गतिशील है, सोता हुआ भी चतुर्दिक् गमनशील है। कठ. उ. १/३/१ में उसे 'सभी धर्मों से परे कहा गया है' और कठ.उ. १/३/१५ में उसे 'भूत-भविष्यत् का शासक कहा गया है।' इस प्रकार उक्त उदाहरणों से 'परब्रह्म दोनों ही लक्षणों से-स्वरूपों से सम्पन्न है, यह स्पष्ट हो जाता है तथा यह कहना भी युक्तिसंगत ही है; क्योंकि सर्वसमर्थ सत्ता के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। वह प्राणियों के हृदय रूपी संस्थान में रहते हुए भी उसके दोषों से निर्लिप्त रहता है और परस्पर विरोधी लक्षणों का उसमें होना किसी भी तरह की अतिशयोक्ति की बात नहीं है। अतः वेद ने उस ईश्वर को दोनों तरह के लक्षणों से सम्पन्न बतलाकर उसकी अनिर्वचनीय महिमा का साक्षात्कार कराने का पुरुषार्थ किया है ॥११ ॥

अगले सूत्र में आचार्य प्रकारान्तर से आशङ्का व्यक्त करके पुनः उसी का निस्तारण करते हुए उक्त सूत्र में प्रतिपादित तथ्यों को और भी दृढ़ कर रहे हैं—

(३३१) न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥१२॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि कहो कि, भेदात् = गुणभेद से अर्थात् सगुण और निर्गुण- ये ब्रह्म के अलग-अलग दो भेद माने गये हैं, (वह एक ही ब्रह्म दोनों भेदों वाला), न = नहीं हो सकता, इति न = तो ऐसी बात नहीं है; क्योंकि, प्रत्येकम् अतद्वचनात् = प्रत्येक श्रुति में इसके विपरीत एक परब्रह्म को ही दोनों लक्षणों से सम्पन्न कहा गया है।

व्याख्या— यदि कोई यह कहे कि 'एक ओर जहाँ परमेश्वर को सर्वश्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न कहा गया है, वहीं दूसरी ओर उसे माया विशिष्ट अपरब्रह्म कहा है तथा एक ओर जहाँ उसके निर्विशेष स्वरूप का उल्लेख हुआ है, वहीं दूसरी ओर उसे परब्रह्म भी कहा गया है। इस प्रकार दोनों के अलग-अलग वर्णन होने से दोनों लक्षण एक में नहीं हो सकते हैं, अत: उस ब्रह्म का उभयलिंगत्व सिद्ध नहीं होता।' तो ऐसा मानना उचित नहीं है; क्योंकि श्रुतियों ने उसके ऐसे लक्षणों को मान्यता प्रदान की है। किसी-किसी श्रुति ने वैसा प्रतिपादन नहीं किया है; किन्तु अधिकांश श्रुतियाँ उस परब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनों लक्षणों का प्रतिपादन करती हैं। बृह.उ. ३/७/३ से २२ तक एवं माण्डूक्योपनिषद् ६ और ७ में एक ही परमेश्वर का उल्लेख करते हुए उसे समस्त श्रेष्ठ गुणों से युक्त और सर्वथा निर्विशेष कहा गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् ३/१,२ में उस ईश्वर को सूर्य के सदृश स्वयं प्रकाश और माया से सदैव अतीत बतलाया गया है। पुन: उससे श्रेष्ठ एवं सूक्ष्म अन्य कोई नहीं है। ऐसा कहकर उसे सर्वत्र परिपूर्ण प्रतिपादित किया है। श्वेता.उप. ३/११,१२ में उसे सभी पर शासन करने वाला, सबका प्रेरक, ज्ञानस्वरूप व निर्मल कहा है। उसे समस्त स्थलों में सिर, मुख व अन्य अंगों से युक्त बतलाया गया है। इस प्रकार अनेक स्थलों पर श्रुतियों ने ब्रह्म को दोनों लक्षणों वाला बतलाया है॥१२॥

अगले सूत्र में आचार्य एक अन्य श्रुति के प्रमाण द्वारा पुन: उसकी एकता को प्रतिष्ठित करते हैं—

(३३२) अपि चैवमेके ॥१३॥

सूत्रार्थ— च = और, एके = (किसी) एक शाखावाले (विशेष रूप से); अपि = भी, एवम् = इसी तरह का प्रतिपादन करते हैं।

व्याख्या— एक शाखा वाले विद्वज्जन तो विशेष रूप से ऊपर के सूत्र में वर्णित सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। तैत्ति.उप. (२/१) में उस परब्रह्म को सत्य, ज्ञान एवं अन्तरहित कहकर उसी से सम्पूर्ण विश्व का उद्भव बतलाया है। इसी उपनिषद् के २/७ में यह भी कहा गया है कि 'उसने स्वयमेव अपने आप को ही इस रूप में विनिर्मित किया है' तथा उसे रस स्वरूप एवं समस्त प्राणियों को आनन्द प्रदान करने वाला बताया गया है। तदनन्तर तैत्ति. २/८ में उस ब्रह्म की स्तुति करते हुए ऋषि कहते हैं-' इसी के भय से वायु गतिशील है, सूर्य उदय होते हैं, अग्नि, इन्द्र और पंचम देव मृत्यु अपने-अपने कार्यों में संलग्न रहते हैं। इस तरह से एक विशेष (तैत्तिरीय) शाखा के सूत्रों द्वारा भी उस एक ही ब्रह्म के दोनों तरह के स्वरूपों का वर्णन होने से भी एक परब्रह्म का निराकार व साकार होना प्रमाणित होता है। अत: उस अविनाशी परमेश्वर को दो स्वरूपों से युक्त मानना ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है॥१३॥

अगले सूत्र में आचार्य पुन: उपर्युक्त तथ्य को सिद्ध करने के लिए दूसरा कारण दे रहे हैं—

(३३३) अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥१४॥

सूत्रार्थ— हि = क्योंकि, अरूपवत् = रूप-रहित निर्विशेष लक्षणों के सदृश, एव = ही, तत्प्रधानत्वात् = उन साकार रूप के लक्षणों की भी प्रमुखता है, अत: (यही प्रमाणित होता है कि परब्रह्म दोनों लक्षणों से युक्त है)।

व्याख्या— जिस प्रकार से श्रुतियों ने परब्रह्म परमेश्वर को लक्षण-विहीन बतलाया है, उसी प्रकार से श्रुतियाँ

उस ब्रह्म के साकार- रूप का भी प्रतिपादन करती हैं। जैसे उस परमपिता परमात्मा को निराकार बतलाने वाले वेदवाक्य प्रमुख हैं, ठीक वैसे ही उसे साकार स्वरूप, सर्वदिव्यगुण सम्पन्न बताने वाले वेद वाक्य भी अनेकश: हैं, उनमें से किसी एक को प्रमुख और दूसरे को गौण नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि एक ही प्रकरण में तथा एक ही सूत्र में एक ही ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए उसे दोनों लक्षणों से सम्पन्न कहा गया है। श्वेताश्वतरोप. ६/११ के '**एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा**' के अनुसार वही एक परब्रह्म दोनों स्वरूपों से युक्त है। उससे ही ब्रह्म का निर्गुण निराकार और सगुण-साकार रूप दोनों ही सिद्ध होता है ॥४॥

अगले सूत्र में एक अन्य दृष्टान्त के द्वारा उक्त तथ्य को सिद्ध किया जा रहा है—

(३३४) प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ॥१५॥

सूत्रार्थ— च = और, प्रकाशवत् = प्रकाश के सदृश, अवैयर्थ्यात् = वेद वाक्यों के व्यर्थ न होने से ब्रह्म के ही लक्षण मानना उचित है।

व्याख्या— जिस तरह अग्नि एवं विद्युत् आदि समस्त ज्योतियों के दो स्वरूप माने गये हैं, यथा- एक प्रत्यक्ष और दूसरा अप्रत्यक्ष-छिपा हुआ। इन दोनों रूपों में से कोई भी व्यर्थ नहीं है; दोनों उचित हैं, उसी तरह उस परब्रह्म के भी दोनों रूप उचित हैं, व्यर्थ नहीं; क्योंकि ऐसा स्वीकारने से ही उसकी साधना-उपासना आदि की सार्थकता होगी। दोनों में से किसी एक को प्रमुख और दूसरे को निम्न अथवा अनावश्यक मानेंगे, तो उसकी निरर्थकता ही होगी। श्रुति में उसके दोनों रूपों का उल्लेख मिलता है, श्रुति के वचन कभी बेकार नहीं हो सकते; क्योंकि वे स्वयं ही प्रमाण हैं। इसलिए उन वेद-श्रुति वाक्यों की सार्थकता के लिए भी ब्रह्म को सविशेष-साकार और निर्विशेष-निराकार दोनों तरह के लक्षणों से सम्पन्न मानना ही ठीक होगा; ऐसा वेद-वाक्यों से स्वत: सिद्ध हो जाता है ॥१५॥

अब अगले दो सूत्रों के द्वारा श्रुति में दिखाई पड़ने वाले विरोध का आचार्य समाधान प्रस्तुत करते हैं—

(३३५) आह च तन्मात्रम् ॥१६॥

सूत्रार्थ— तन्मात्रम् = (श्रुति ब्रह्म को) केवल चेतन, सत्य, ज्ञान और अनन्त मात्र, च = ही, आह = कहती है। यहाँ सूत्र में सगुण-वाची शब्दों का प्रयोग नहीं है।

व्याख्या— परब्रह्म परमेश्वर को साकार स्वरूप वाला बतलाना मिथ्या है; क्योंकि श्रुति तैत्तिरीयोपनिषद् (२/१) में कहा गया है- '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' अर्थात् 'ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है।' यहाँ इस सूत्र में परमात्मा को एकमात्र ज्ञान स्वरूप ही कहा गया है। सूत्र में प्रयुक्त 'तत्' पद प्रकाश-ज्ञान का भाव प्रकट करता है, जो परमात्मा के चैतन्य भाव का बोधक है। ऋग्वेद ६/९/५ में कहा गया है- 'जन्म-मृत्यु के प्रवाह में प्रवाहित प्राणियों के हृदय में वह निश्चल ज्योति सर्वत्र व्यापक चैतन्य तत्त्व-ब्रह्म है।' यहाँ ब्रह्म को ज्योति: स्वरूप कहना, उसके चैतन्य भाव का बोधक है। बृह. उ. ४/५/१३ में उल्लेख मिलता है- 'जैसे नमक की डली केवल नमक ही नमक है, वैसे ही यह ब्रह्म बाहर-भीतर की स्थिति से परे चेतनमय ही है। बृह. उ. (३/९/२८), तैत्ति.(३/६) और मुं. २/२/७ में उस जगन्नियन्ता को एकमात्र आनन्दमय ही कहा गया है। ब्रह्म का यथार्थ रूप एकमात्र ऐसा ही है। उसके स्वरूप को व्यक्त करने के लिए श्रुति में उक्त उल्लेख प्राप्त होते हैं। उसे सत्य संकल्पत्व आदि गुणों से सम्पन्न नहीं बतलाया है। अत: यहाँ उस परब्रह्म को दोनों लक्षणों से युक्त मानना उचित नहीं प्रतीत होता है ॥१६॥

अगले सूत्र में उक्त प्रतिपादनार्थ अन्य श्रुति-स्मृतियों के प्रमाण देकर आचार्य उक्त अर्थ की पुष्टि करते हैं—

(३३६) दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते॥१७॥

सूत्रार्थ— अथो = उपर्युक्त कथन के बाद, दर्शयति = श्रुति उस (ब्रह्म) को अनेक रूपों वाला भी दिखलाती है, च = और, स्मर्यते = स्मृति में, अपि = भी उसे सगुण रूप वाला कहा गया है।

व्याख्या— उपर्युक्त सूत्र में प्रतिपादित '**सत्यं ज्ञानमनन्तम्**' (तैत्ति.२/१) के मंत्र में उस परमेश्वर को सभी के हृदय में अवस्थित कहा है और उसी के द्वारा सम्पूर्ण जगत् के उद्‌भव-विकास का वर्णन भी मिलता है। ब्रह्म के विभिन्न रूपों का श्रुतियों एवं स्मृतियों में उल्लेख होने से उसके साकार रूप को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। गोपालतापनीयोपनिषद् में इस प्रकार कहा गया है- 'सत्पुण्डरीक नेत्र, मेघवर्ण, विद्युत् रूप वस्त्रधारी दो भुजा वाले, मौनमुद्रा युक्त एवं वनमाला धारी को ईश्वर कहते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् २/७,८ में उसे रसस्वरूप, आनन्दप्रदाता एवं सबका संचालक कहा गया है। इस कारण उस श्रुति को एकमात्र निराकार मानना उचित नहीं है। ऐसे ही स्मृति में भी अनेकों स्थलों में उसके स्वरूप का उल्लेख दोनों प्रकार से प्राप्त होता है। यथा श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के (१०/३) में गीताकार कहते हैं- 'जो मुझको अजन्मा, अनादि एवं लोक महेश्वर के रूप में जानता है, वह मनुष्यों में ज्ञानी है तथा वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है। गीता के (५/२९) में कहा है- 'जो मनुष्य मुझे सभी यज्ञ और तप का भोक्ता, सभी लोकों का महान् ईश्वर और समस्त भूतों का शुभाषी जानता है, उसे शान्ति मिलती है।' गीता के ११/५४ में भगवान् कहते हैं कि 'ऐसे सगुण स्वरूप वाला मैं एकमात्र अनन्य भक्ति से ही देखा जा सकता हूँ, तत्त्व से जानने में आ सकता हूँ तथा मेरे भक्त मुझमें प्रवेश भी कर सकते हैं। इस प्रकार के अनेकों दृष्टान्त श्रुति-स्मृतियों में देखने को मिलते हैं, जिससे परब्रह्म का दोनों लक्षणों से सम्पन्न होना प्रमाणित होता है॥१७॥

परब्रह्म का साकार-रूप उपाधि भेद से नहीं; बल्कि सहज-स्वाभाविक है, अगले सूत्र में इसी तथ्य की पुष्टि हेतु आचार्य एक अन्य प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं—

(३३७) अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्॥१८॥

सूत्रार्थ— च = तथा, अतएव = इसीलिए (उस परब्रह्म का उभयरूप स्वाभाविक है, यही पुष्ट करने हेतु ही), सूर्यकादिवत् = सूर्यादि की प्रतिच्छाया की भाँति, उपमा = उपमा प्रदान की गई है।

व्याख्या— ब्रह्मबिन्दूपनिषद् १२ में उल्लेख मिलता है कि 'समस्त प्राणियों का आत्मा परब्रह्म एक होते हुए भी वह पृथक्-पृथक् प्राणियों (भूतों) में अवस्थित रहता है। इसीलिए वह ब्रह्म जल में प्रतिबिम्बित सूर्य-चन्द्र की तरह एक और अनेकों रूपों में दृष्टिगोचर होता है'। उक्त दृष्टान्त से यह भाव प्रदर्शित किया गया है कि सर्वव्यापक ब्रह्म सगुण, निर्गुण के भेद से अलग-अलग नहीं; वरन् वह एक ही है। जैसे-सूर्य-चन्द्रमा आदि में सहज-स्वाभाविक गुण हैं, वैसे ही ब्रह्म के सर्वव्यापकत्व, सत्यसंकल्पत्व एवं सर्वज्ञता आदि सहज गुण हैं, उपाधि से नहीं। उक्त तथ्य में जो प्रतिच्छाया का उल्लेख हुआ है, उसमें यह स्वीकारना चाहिए कि अभिन्न वस्तु में कभी बिम्ब- प्रतिबिम्ब का भाव नहीं होता। जो ब्रह्म विभाव रहित यानी अविभक्त है, वह निराकार होते हुए भी समस्त भूत-प्राणियों में विभक्त की भाँति स्थित रहता हुआ भी एक ही है तथा उन सब में रहता हुआ भी उन-उन के गुण-दोषों से परे रहता है, ऐसा ही वेद वाक्यों में कहा गया है॥१८॥

उक्त सूत्र के प्रतिपादनार्थ प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त दिये जाने से यह आशंका हो सकती है कि ब्रह्म का सभी भूतों में स्थित रहना प्रतिबिम्बवत् मिथ्या ही है, यथार्थतः नहीं। अतः इसी आशंका के निवारणार्थ अगला सूत्र प्रस्तुत किया जा रहा है—

(३३८) अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्॥१९॥

सूत्रार्थ— तु = किन्तु, अम्बुवत् = जल में विद्यमान चन्द्रमा के समान, अग्रहणात् = परब्रह्म का ग्रहण न होने

के कारण (उस ईश्वर को), तथात्वम् = निरन्तर उसी तरह का, न = नहीं स्वीकारना चाहिए।

व्याख्या— उपर्युक्त सूत्र में परब्रह्म परमात्मा को समस्त भूत-प्राणियों में अवस्थित बतलाते हुए जल में दृष्टिगोचर होने वाले चन्द्रमा का उदाहरण दिया गया है; किन्तु वह उदाहरण पूरी तरह से परब्रह्म में नहीं घटता है; क्योंकि चन्द्रमा वस्तुतः जल नहीं है, जल में तो केवल उसका प्रतिबिम्ब ही परिलक्षित होता है। चन्द्रमा की तरह सभी प्राणियों के अन्तःकरण में परब्रह्म की छाया नहीं रहती, बल्कि स्वयं ब्रह्म ही अनेक रूपों में अवस्थित रहता है। गीता के १८/६१ में इसका उल्लेख इस प्रकार किया गया है- परमात्मा तो स्वयं ही समस्त भूतों के हृदय में सचमुच अवस्थित रहता है और उन-उन प्राणियों के कर्मानुसार उनको अपनी शक्ति के माध्यम से संसार-चक्र में भ्रमण कराता रहता है। अतः चन्द्रमा की प्रतिच्छाया के सदृश परमात्मा की स्थिति नहीं है। यहाँ इस दृष्टान्त से यही मानना चाहिए कि चन्द्रमा अपनी प्रतिच्छाया द्वारा एक से अनेक रूपों में दिखलाई देता है, ब्रह्म तो समस्त भूतों के हृदय में एक रूप से स्थित होकर विभिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होता है ॥१९॥

यदि चन्द्रमा की प्रतिच्छाया की भाँति ब्रह्म की स्थिति नहीं है, तो फिर प्रतिबिम्ब का उदाहरण क्यों दिया गया ? इस जिज्ञासा का समाधान अगले सूत्र में किया जा रहा है—

(३३९) वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ॥२०॥

सूत्रार्थ— अन्तर्भावात् = अन्तःकरण में स्थित होने के कारण, वृद्धिह्रासभाक्त्वम् = शरीर के माप के अनुसार ब्रह्म के बढ़ने-घटने वाला होने की सम्भावना होती है, अतः (उसके निषेध में), उभयसामञ्जस्यात् = ब्रह्म और चन्द्र प्रतिबिम्ब-इन दोनों की समानता है, एवम् = (अतः) इस प्रकार की उपमा दी गई है।

व्याख्या— उपमा और उपमेय वस्तु के किसी एक अंश की समानता को रखकर दी जाती है। यदि इन दोनों की पूरी तरह से एकता हो जाये, तो वह उपमा ही नहीं कही जायेगी; वरन् वास्तविक वर्णन हो जायेगा; अतः यहाँ जैसे चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल में विद्यमान रहता हुआ भी जल के बढ़ने-घटने आदि के विकारों से सम्बद्ध नहीं होता, वैसे ही परमात्मा समस्त भूतों में निवास करता हुआ भी विकार-रहित रहता है। उन (शरीर) के घटने-बढ़ने आदि किसी भी विकार से वह संलिप्त नहीं होता। यदि यहाँ यह आशंका करें कि शरीर में स्थित रहने से वह (ब्रह्म) उस (शरीर) के अनुपात से घटता-बढ़ता भी होगा, तो ब्रह्म शरीर के किसी भी विकार में लिप्त नहीं होता अर्थात् शरीर के घटने-बढ़ने का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह (ब्रह्म) समस्त प्राणियों के हृदय में समान भाव से स्थित रहता है ॥२०॥

अगले सूत्र में आचार्य प्रकारान्तर से पुनः ब्रह्म के (निराकार-साकार रूप) भ्रम का निवारण करते हैं—

(३४०) दर्शनाच्च ॥२१॥

सूत्रार्थ— दर्शनात् = श्रुति में दूसरे अन्य दृष्टान्त देखे जाते हैं, च = इसलिए भी (यह मान्यता उचित है कि ब्रह्म की स्थिति प्रतिबिम्ब की भाँति अवास्तविक नहीं है)।

व्याख्या— सूर्य एवं चन्द्रमा के प्रतिबिम्बों के जल में होने से भी जल के गुण उन्हें व्याप्त नहीं कर पाते। इसी प्रकार आकाश का घट या सकोरे में रहकर भी उनके गुणों से सम्बन्ध नहीं रहता, उसी प्रकार परब्रह्म का भी विभिन्न शरीरों में रहते हुए उनके गुणों से सम्बन्ध नहीं रहता। इसलिए उसे विकार रहित कहा गया है। कठोपनिषद् (२/२/९) में इसके सम्बन्ध में इस प्रकार उल्लेख मिलता है कि जिस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट हुआ एक ही अग्नि विभिन्न रूपों में हर एक के रूपवाला-सा प्रतीत हो रहा है और उनके बाहर भी है। क.उ. २/२/११-१२ में भी ब्रह्म की निर्लिप्तता सिद्ध करते हुए कहा गया है- 'अग्नि के ही समान वहाँ वायु

और सूर्य के दृष्टान्त से भी परब्रह्म की वस्तुगत गुण-दोष से निर्लेपता सिद्ध होती है। इस तरह प्रतिबिम्ब के अलावा दूसरे अन्य दृष्टान्त भी, जो उस ब्रह्म की स्थिति की सत्यता का प्रतिपादन करने वाले हैं, श्रुति में देखने को मिलते हैं। इसलिए भी प्राणियों में और प्रत्येक पदार्थ में उस परब्रह्म की स्थिति प्रतिबिम्बि की तरह आभास मात्र ही नहीं; वास्तविक है। इस प्रकार के अनेकों वर्णन वेद में देखने को मिलते हैं, जिनसे ब्रह्म की निर्लेपता सिद्ध होती है। अत: वह ब्रह्म साकार और निराकार दोनों ही लक्षणों से सम्पन्न है, ऐसा ही मानना समीचीन होगा॥२१॥

अभी तक यह प्रमाणित किया गया कि परब्रह्म परमात्मा साकार-निराकार दोनों लक्षणों वाला है। अब आशंका यह उठती है कि वेद में उस (ब्रह्म) को नेति-नेति अर्थात् ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है- कहा गया है, तो इन निषेधात्मक श्रुतियों का क्या तात्पर्य है ? आचार्य अगले सूत्र से इसी का निर्णय करने हेतु नया प्रकरण प्रारम्भ करते हैं—

(३४१) प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः॥२२॥

सूत्रार्थ— प्रकृतैतावत्त्वम् = उक्त प्रकरण में ब्रह्म के जो लक्षण कहे गये हैं, उनकी इयत्ता का अर्थात् वह इतना ही है, प्रतिषेधति = नेति-नेति श्रुति निषेध करती है, हि = क्योंकि, ततः = उसके पश्चात्, भूयः = पुनः , च = भी, ब्रवीति = कहती है।

व्याख्या— बृहदारण्यकोपनिषद् (२/३/१ से ६ तक) में ब्रह्म के मूर्त्त और अमूर्त्त दो रूप बतला कर प्रकरण की शुरुआत की गई है। वहाँ भौतिक जगत् में तो जल, पृथ्वी और तेज को कार्य सहित मूर्त्त और वायु, आकाश को अमूर्त्त बतलाया है। ऐसे ही आध्यात्मिक जगत् में प्राण और हृदयाकाश को अमूर्त्त एवं उससे पृथक् शरीर और इन्द्रियगोलकादि को मूर्त्त कहा है। जिन्हें मूर्त्त बताया, उन्हें क्षणभंगुर अर्थात् रूपान्तरित होने वाले, किन्तु प्रत्यक्ष प्राप्त होने से 'सत्' कहा और वैसे ही अमूर्त्त को अमृत अर्थात् शाश्वत कहा है। इस प्रकार से उन जड़ तत्त्वों की विवेचना करते समय ही आधिभौतिक जगत् में सूर्यमण्डल को और आध्यात्मिक जगत् में नेत्र को मूर्त्त का सार कहा है। ऐसे ही आधिदैविक जगत् में सूर्यमण्डल के मध्य में स्थित पुरुष को और आध्यात्मिक जगत् में नेत्र में स्थित पुरुष को अमूर्त का सार बतलाया है। इस प्रकार सगुण परब्रह्म के साकार और निराकार-दोनों रूपों का उल्लेख करके पुनः कहा गया है कि 'नेति-नेति' अर्थात् इतना ही नहीं, इतना ही नहीं। इससे अधिक अन्य कोई सदुपदेश नहीं है। इसके उपरान्त यह भी कहा गया है कि- उस परम तत्त्व का नाम सत्य का सत्य है, यह प्राण अर्थात् जीवात्मा सत्य है तथा उसका भी सत्य वह परमपिता परमात्मा ही है।' इस प्रकार उस परब्रह्म के साकार रूप का वर्णन करके यह भाव प्रदर्शित किया गया है कि इनमें जो जड़ पदार्थ है, वह तो उसकी अपरा प्रकृति का विस्तार है और जो चेतन है, वह जीव रूपी उसकी परा प्रकृति है तथा इन दोनों सत्यों का आश्रयभूत वह परब्रह्म परमात्मा इनसे भी परे अर्थात् सर्वोत्कृष्ट है। अतः यहाँ 'नेति-नेति' कहकर सत्य के सत्य परब्रह्म का होना सिद्ध किया है। अतः परब्रह्म परमात्मा एक मात्र निर्गुण निराकार ही है, सगुण-साकार नहीं, ऐसा नहीं मानना चाहिए॥२२॥

उस परमात्मा के साकार और निराकार दोनों ही स्वरूप यथार्थतः प्राकृत मन-बुद्धि और इन्द्रियों से परे हैं। अगले सूत्र में इसी भाव को स्पष्ट करने के लिए आचार्य अपना मत प्रस्तुत करते हैं—

(३४२) तदव्यक्तमाह हि॥२३॥

सूत्रार्थ— हि = क्योंकि, तत् = उस (ब्रह्म) के सगुण रूप को, अव्यक्ततम् = इन्द्रियों द्वारा ग्रहण न किये जाने वाला, आह = (श्रुति) कहती है।

व्याख्या— श्रुतियों में उस परब्रह्म को इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य बतलाया गया है। निराकार रूप से ही वह अव्यक्त है, मात्र इतना ही नहीं; वरन् ऐसे ही उसका साकार रूप भी इन प्राकृत मन और इन्द्रिय आदि का विषय नहीं

है; क्योंकि श्रुति स्मृतियों में उसे भी अव्यक्त कहा गया है। मुण्डकोपनिषद् (३/१/३) में परब्रह्म साकार-स्वरूप का उल्लेख इस प्रकार मिलता है-'जब यह जीवात्मा सबके शासक,ब्रह्मा के भी आदि कारण, सम्पूर्ण जगत् के सृजेता, दिव्य- प्रकाशस्वरूप परम पुरुष परमात्मा का साक्षात् कर लेता है, उस समय पाप-पुण्य दोनों को सम्यक् रूप से धो-बहाकर मलरहित हुआ ज्ञानी सर्वश्रेष्ठ समता को पा लेता है।' तदुपरान्त इसी उपनिषद् (३/१/४ से ७ तक) में सत्य, तप और ज्ञान आदि को उसकी प्राप्ति का माध्यम बतलाया गया है। पुन: अनेकों विशेषणों के द्वारा उस परब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करके अगले मन्त्र (३/१/८) में उसके निराकार का वर्णन इस प्रकार मिलता है- 'वह परब्रह्म न तो नेत्रों से, न वाणी से, न अन्य इन्द्रिय अथवा मन से, न तप से और न ही कर्मों के द्वारा देखा जा सकता है।' ऐसा ही उल्लेख अनेकानेक श्रुति-स्मृतियों में भी देखने को मिलता है। अत: परमपुरुष परमात्मा का साकार-निराकार (मूर्त्त-अमूर्त्त) दोनों रूप कहने का उद्देश्य यही है कि जगत् रूप रचना द्वारा क्रमश: उसके वास्तविक स्वरूप का बोध विधिपूर्वक सम्पन्न करवाया जा सके॥२३॥

उक्त सूत्र में प्रतिपादित कथन से यह नहीं मान लेना चाहिए कि परब्रह्म परमात्मा का किसी भी अवस्था में प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता। अगले सूत्र में आचार्य श्रुति-स्मृति दोनों के दृष्टान्तों द्वारा परमेश्वर के साक्षात्कार का वर्णन करते हैं—

(३४३) अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्॥२४॥

सूत्रार्थ— अपि च = इस प्रकार अव्यक्त होने पर भी, संराधने = सम्यक् रूप से आराधना करने पर (साधक अपने इष्ट परब्रह्म का प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त करते हैं,) प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् = यह बात वेद और स्मृति (प्रत्यक्ष और अनुमान) दोनों के ही कथन द्वारा भी सिद्ध होती है।

व्याख्या— वेदों एवं स्मृतियों में जहाँ साकार और निराकार रूप परब्रह्म को इन्द्रिय आदि के द्वारा देखने में न आने वाला कहा गया है वहाँ यह भी कहा गया है कि वह परब्रह्म मंत्र-जप, स्मरण, ध्यान आदि आराधना के द्वारा प्रत्यक्ष-साक्षात् होने वाला भी है। परब्रह्म परमेश्वर का यह महान् अनुग्रह है, जब जीवात्मा उसके स्वरूप का साक्षात् दर्शन करता है। श्रुति-स्मृतियों ने इस तथ्य को विस्तार से प्रतिपादित किया है। परब्रह्म के दोनों स्वरूपों का उल्लेख श्रुति के अन्तर्गत कठोपनिषद् (१/२/२३) में कहा गया है- 'जिस पर ब्रह्म का अनुग्रह है, वह इसे प्राप्त कर लेता है, ब्रह्म अपने स्वरूप को उसके लिए प्रकाशित कर देता है।' मुण्डकोपनिषद्- (३/१/८) में कहा है- 'आत्मा की शुद्ध, शान्त स्थिति से विशुद्ध अन्त:करण वाला व्यक्ति ब्रह्म का ध्यान करता हुआ, उसे साक्षात् कर लेता है।' श्वेताश्वतर (२/५) में वर्णन मिलता है- 'योगी आत्मतत्त्व द्वारा ब्रह्मतत्त्व को ऐसे देख लेता है, जैसे एक दीपक से दूसरा दीपक प्रज्वलित कर लिया जाता है। इसी प्रकार स्मृतियों के अन्तर्गत मनुस्मृति (६/६५) में कहा गया है- 'योग समाधि द्वारा ब्रह्म की सूक्ष्मता का दर्शन करे।' वेद और स्मृतियों के इन वचनों में उस साकार-निराकार रूप ब्रह्म को आराधना के द्वारा प्रत्यक्ष होने वाला कहा गया है। अत: यह सिद्ध होता है कि उसके प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। गीता के अध्याय ११ के ५४ वें श्लोक में भगवान् ने कहा है कि 'हे अर्जुन! अनन्य भक्ति के द्वारा ही मुझे तत्त्वत: जाना जा सकता है। मेरा दर्शन हो सकता है और मुझमें ही प्रवेश किया जा सकता है।' इससे भी यही सिद्ध होता है कि वह ब्रह्म निश्चित ही साकार-निराकार दोनों ही स्वरूपों से युक्त है॥२४॥

उक्त सूत्र के प्रतिपादनार्थ कहा गया है कि उस परब्रह्म का स्वरूप आराधना द्वारा जानने में आता है, अन्यथा नहीं। इस कथन से तो यह प्रमाणित होता है कि यथार्थत: परब्रह्म निर्विशेष ही है। वह तो एकमात्र भक्त के लिए आराधना काल में साकार रूप में प्रकट होता है। अगले सूत्र में आचार्य इसी आशंका का समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—

(३४४) प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्॥२५॥

सूत्रार्थ— प्रकाशादिवत् = प्रकाशादि गुणों के समान, च = ही, अवैशेष्यम् = (ब्रह्म में भी) विशिष्टता न होने से, प्रकाश: = प्रकाश, च = भी, कर्मणि = कर्म में, अभ्यासात् = अभ्यास करने से ही सिद्ध होता है।

व्याख्या— जिस प्रकार अग्नि एवं विद्युत् आदि तत्त्व अपने प्रकट रूप में प्रकाश और उष्णता प्रधान गुणों से सम्पन्न रहते हैं और अप्रकट रूप अर्थात् प्रकट न हो-छिपा हो, उस अवधि में भी वे अपने गुणों से युक्त रहते हैं। व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही अवस्थाओं में उन स्वाभाविक गुणों से सम्पन्न होने में किसी भी तरह का कोई अन्तर नहीं आता। उसी प्रकार से वह परब्रह्म उपासना द्वारा साकार-प्रत्यक्ष होने के समय जिस प्रकार समस्त कल्याणकारी विशेष परिष्कृत दिव्य गुणों से युक्त हो जाता है, वैसे ही उसे अप्रकट रूप में भी समझना चाहिए। अव्यक्त ब्रह्म के गुणों में भी किसी भी तरह की भिन्नता नहीं होती अर्थात् जो स्वभाव निर्गुण ब्रह्म का है, वही प्रकृति साकार रूप ब्रह्म की होती है। उसमें कोई भेद उपस्थित नहीं होता। जैसे- अग्नि आदि प्रकाश का प्रकट होना, उनके साधन और कर्म पर निर्भर है, उसी प्रकार ब्रह्म से साक्षात्कार करने के लिए भी उनकी आराधना आदि कर्मों का अभ्यास करना अत्यावश्यक है, क्योंकि अभ्यास द्वारा ही कर्म की सिद्धि संभव है और कर्म-सिद्धि हो जाने पर ही ब्रह्म के प्रत्यक्ष रूप में दर्शन किये जा सकते हैं॥२५॥

आचार्य अगले सूत्र में उभयलिङ्ग वाले प्रकरण को समाप्त करते हुए अन्त में ब्रह्म का अनन्त होना बतलाते हैं—

(३४५) अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम्॥२६॥

सूत्रार्थ— अत: = ऊपर कहे हुए इन कारणों से यही सिद्ध हुआ कि, अनन्तेन = (वह ब्रह्म) अनन्त दिव्य कल्याणकारी गुणों से सम्पन्न है, हि = क्योंकि, तथा = वैसे ही, लिङ्गम् = लक्षण प्राप्त होता है।

व्याख्या— उपर्युक्त सूत्रों में दिये गये दृष्टान्तों-प्रतिपादनों से ब्रह्म का अनन्त होना सिद्ध होता है; क्योंकि ब्रह्म में अनन्त रूप होने के लक्षण उपलब्ध हैं। पूर्वोक्त कारणों से स्पष्ट हो जाता है कि वह परब्रह्म परमात्मा सत्यसंकल्पत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्ता, पतितपावनता, सौहार्द, आनन्द, विज्ञान, असङ्गता एवं निर्विकारिता आदि असंख्य कल्याणकारी गुण-समूहों से युक्त और निर्विशेष अर्थात् सभी गुणों से विहीन भी है; क्योंकि वेद और स्मृतियों में ऐसे ही लक्षण प्राप्त होते हैं। श्रुतियों एवं स्मृतियों ने उन विराट् परमपुरुष परमेश्वर के विभिन्न नाम व स्वरूप का जगह-जगह पर उल्लेख करके उनके अनन्त गुण-समुदाय की विवेचना की है॥२६॥

अब अगले सूत्र में आचार्य परम पुरुष एवं उसकी प्रकृति भिन्न है या अभिन्न ? इसी की विवेचना के लिए नया प्रकरण शुरू करते हैं। सर्वप्रथम शक्ति और शक्तिमान् में किस प्रकार अभेद है ? यहाँ स्पष्ट करते हैं—

(३४६) उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्॥२७॥

सूत्रार्थ— उभयव्यपदेशात् = दोनों प्रकार (साकार- निराकार) का कथन उल्लिखित होने से, अहिकुण्डलवत् = सर्प के कुण्डलाकार होने के सदृश, तु = ही (उसका भाव जानना चाहिए)।

व्याख्या— जैसे सर्प कभी अपने शरीर को संकुचित करके कुण्डलाकारवत् बैठता है और कभी अपनी सहज-स्वाभाविक दशा में रहता है; किन्तु दोनों ही स्थितियों में अलग-अलग तरह से दृष्टिगोचर होने पर भी वह सर्प एक ही है। यहाँ सहज स्थिति में रहना उसका कारण भाव है, उस क्षण उसकी कुण्डलादिभाव में प्रकट होने की शक्ति अप्रकट है; फिर भी वह उसमें स्थित रहते हुए भी उससे पृथक् रहता है। ऐसे ही कुण्डलादि रूप में स्थित होना उसका कार्यभाव है, यही उसकी पूर्वोक्त अप्रकट शक्ति का प्रकट होना है। वैसे ही वह ब्रह्म जब कारण भाव में रहता है, उस क्षण उसकी अपरा एवं परा प्रकृतिरूप दोनों शक्तियाँ सृष्टि से पूर्व उसमें अभिन्न रूप से समाहित रहती हुई भी अप्रकट रहती हैं; किन्तु जब वह कार्य रूप में स्थित होता है, तब

उसकी उक्त दोनों शक्तियाँ पृथक्-पृथक् नाम रूपों में प्रकट हो जाती हैं। अत: वेद में जो ब्रह्म को निराकार कहा गया है, वह उसकी कारण अवस्था को लेकर है और जो उसे अपनी शक्तियों से युक्त एवं साकार कहा है, वह उसकी कार्य-अवस्था को लेकर है। इस प्रकार श्रुति-स्मृति दोनों में उसके कारण और कार्य दोनों स्वरूपों का विवेचन मिलता है। अत: यह स्पष्ट होता है कि परमात्मा में उसकी शक्ति सदैव अभिन्न रूप से स्थित रहती है। दोनों ही अवस्थाओं में ब्रह्म का अभिन्नत्व उपस्थित रहता है ॥२७॥

अगले सूत्र में आचार्य प्रकारान्तर से पुन: उक्त तथ्य को प्रतिपादित करते हैं—

(३४७) प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥२८॥

सूत्रार्थ— वा = अथवा, प्रकाशाश्रयवत् = प्रकाश और उसके आश्रय के सदृश उनका अभिन्नत्व है, क्योंकि; तेजस्त्वात् = तेज की दृष्टि से दोनों को भेद रहित अर्थात् एक ही माना है।

व्याख्या— जिस प्रकार प्रकाश और उसके आश्रय रूप अग्नि, सूर्य आदि दोनों ही तेज तत्त्वात्मक होने के कारण अभिन्न हैं; फिर भी वे (प्रकाश और सूर्य-अग्नि) दोनों पृथक् माने जाते हैं। प्रकाश और प्रकाशक (सूर्यादि) स्वयं प्रकाशरूप हैं, किन्तु जब वह प्रकाश किसी अन्य वस्तु पर पड़ता है, तो वह प्रकाशक कहलाता है। 'प्रकाश' या 'प्रकाशक' पदों से सम्बोधित किया जाने वाला तत्त्व एकमात्र तेज ही है; फिर भी वह प्रकाश्य वस्तु से अलग है। वह वस्तु प्रकाशित होने पर स्वयमेव प्रकाश स्वरूप नहीं होती। इसी प्रकार ब्रह्म आनन्दस्वरूप है, उस आनन्द से मुक्तावस्था में प्राणी आनन्दित होता है, तब आनन्द रूप परब्रह्म आनन्द प्रदाता कहलाता है। इतने मात्र से उसके आनन्दमय रूप में कोई अन्तर नहीं आता; इसी आधार पर तेज (प्रकाश और सूर्य) के दृष्टान्त से ब्रह्म और उसकी प्रकृति का अभेदत्व सिद्ध होता है ॥२८॥

अगले सूत्र में आचार्य पुन: उक्त तथ्य को स्पष्ट करते हुए पूर्वोक्त कथन को प्रस्तुत कर रहे हैं—

(३४८) पूर्ववद्वा ॥२९॥

सूत्रार्थ— वा = अथवा; पूर्ववत् = जैसे पूर्व के सूत्र में स्पष्ट किया जा चुका है, वैसे ही दोनों का अभेदत्व समझना चाहिए।

व्याख्या— अथवा पूर्व में वर्णित सूत्र (२/३/४३) में जिस प्रकार परब्रह्म परमात्मा का अपने अंशभूत प्राणि-समुदाय से अभेदत्व सिद्ध किया जा चुका है, उसी प्रकार से यहाँ शक्ति एवं शक्तिमान् अर्थात् प्रकृति और ब्रह्म का अभेदत्व समझना चाहिए। पूर्व के सूत्रों में दोनों (ब्रह्म एवं प्रकृति) की अभिन्नता के दृष्टान्त-प्रमाण भी प्रतिपादित किये गये हैं। अत: यहाँ पर दोनों का अभेदत्व ही सिद्ध होता है ॥२९॥

अब अगले सूत्र में आचार्य शक्ति एवं शक्तिमान् के अभेदत्व का प्रमुख कारण बतलाते हैं—

(३४९) प्रतिषेधाच्च ॥३०॥

सूत्रार्थ— प्रतिषेधात् = दूसरे किसी अन्य का निषेध होने से, च = भी (अभेदत्व ही सिद्ध होता है)।

व्याख्या— ऐतरेयोपनिषद् (१/१/१) में वर्णन मिलता है कि 'इस जगत् का उद्‌भव होने से पूर्व एकमात्र परब्रह्म परमात्मा ही था, उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी चेष्टा करने वाला उपस्थित नहीं था।' यहाँ इस कथन में किसी अन्य का निषेध होने से भी यही मान्यता प्रतिपादित होती है कि जगत् की उत्पत्ति के पूर्व प्रलयकाल में उस परमात्मसत्ता की दोनों प्रकृतियाँ उसी में समाहित होकर स्थित रहती हैं। अत: उनमें किसी भी तरह के भेद की प्रतीति नहीं होती। इसी कारण उनका अभेदत्व बतलाया गया है ॥३०॥

अभी तक परब्रह्म परमात्मा का अपनी दोनों प्रकृतियों से अभेदत्व कैसा है ? स्पष्ट किया गया है। अब अगले सूत्र से आचार्य उन दोनों (प्रकृतियों) से उसकी विलक्षणता एवं श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं—

(३५०) परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥३१ ॥

सूत्रार्थ— अतः= इस जड़-चेतनमय प्रकृतियों के समुदाय से, परम्= (वह परब्रह्म) अति श्रेष्ठ है, सेतून्मानसम्बन्ध = क्योंकि श्रुति में सेतु, उन्मान, सम्बन्ध और, भेदव्यपदेशेभ्यः = भेद का वर्णन करने से यही सिद्ध होता है।

व्याख्या— इस जड़-चेतनमय सम्पूर्ण जगत् की कारणभूता जो भगवान् की प्रकृतियाँ हैं, उन्हें गीता के ७/४,५ में परा-अपरा नाम से कहा गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् (१/१०) में इन प्रकृतियों का 'क्षर' और 'अक्षर' के नाम से उल्लेख मिलता है। गीता में कहीं (१३/१ में) क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के नाम से, तो कहीं (१३/९ में) प्रकृति और पुरुष के नाम से जिन प्रकृतियों का वर्णन किया गया है, गीता के (१५/७) में उन दोनों प्रकृतियों से तथा उन्हीं के विस्तार रूप इस दृश्य जगत् से वह परमात्मा सर्वथा विलक्षण एवं सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि वेद में उसकी सर्वोत्कृष्टता को सिद्ध करने वाले चार हेतु मिलते हैं; जो निम्नवत् हैं- १. सेतु २. उन्मान ३. सम्बन्ध और ४. भेद का वर्णन।

सेतु का वर्णन छा.उ. ८/४/१ में इस प्रकार मिलता है- '**अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः**' अर्थात् यह जो आत्मा (परमात्मा) है, यही सबको धारण करने वाला सेतु है। बृह. उ. ४/४/२२ भी कहता है कि 'सेतु ही सबको धारण करने वाला है। अब द्वितीय हेतु है उन्मान। उन्मान का अर्थ है- सबसे बड़ा माप अर्थात् महत् परिणाम। छा.उ. ३/१२/६ में परब्रह्म के सर्वाधिक महान् होने का वर्णन इस प्रकार मिलता है- ' उतनी उसकी महिमा है, वह परम पुरुष इससे भी श्रेष्ठ है। समस्त प्राणी इस विराट् पुरुष का एकपाद हैं और शेष तीन अमृतमय पाद अप्राकृत परमधाम में हैं। तृतीय हेतु है सम्बन्ध का प्रतिपादन। ब्रह्म को उक्त प्रकृतियों का स्वामी, शासक और संचालक कहकर श्रुति ने इनमें शास्य-शासक भाव एवं स्वामि-सेवक भाव रूप सम्बन्ध का प्रतिपादन किया है। श्वेता.उ.६/७ में इसका उल्लेख इस प्रकार है- 'ईश्वरों के भी परम ईश्वर, देवों के भी परम देव, पतियों के भी परमपति, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के रचयिता एवं स्तुत्य उस ज्ञान-स्वरूप परब्रह्म को हम जानते हैं।' चतुर्थ हेतु है भेद का प्रतिपादन। उस परमात्मा को इन दोनों प्रकृतियों का अन्तर्यामी एवं भरण-पोषण कर्त्ता कहकर और अन्य तरह से भी वेद ने इनसे उसकी पृथक्ता का निरूपण किया।

उक्त सभी कारणों-दृष्टान्तों से यह प्रमाणित होता है कि वह सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वाधार परमात्मा अपनी दोनों प्रकृतियों से अति विलक्षण एवं सर्वोत्कृष्ट है; क्योंकि श्रुति में वर्णित उस परब्रह्म का स्वरूप दिव्य, अलौकिक और उपाधि से परे है। उसके साक्षात्कार का फल परम शान्ति की उपलब्धि, सभी तरह के बन्धनों से परे और अमृतत्त्व की प्राप्ति ही कहा गया है॥३१॥

अभी तक यह स्पष्ट किया गया कि उस परमात्मा का अपनी अपरा एवं परा नामक प्रकृति के साथ भेद और अभेद दोनों ही हैं। अब जिज्ञासा यह होती है कि इन दोनों में से श्रेष्ठ कौन है- अभेदपक्ष या भेद पक्ष ? अगले सूत्र में इसी का समाधान प्रस्तुत है—

(३५१) सामान्यात्तु ॥३२ ॥

सूत्रार्थ— सामान्यात् = श्रुति में भेद और अभेद का वर्णन-दोनों ही समान भाव से है, तु = इससे तो यही निश्चय होता है कि भेद और अभेद दोनों पक्षों की मान्यता सिद्ध होती है।

व्याख्या— श्रुतियों ने परब्रह्म परमात्मा को जीवात्मा (प्रकृति) से भेद और अभेद दोनों ही पक्षों में मान्यता प्रदान की है। श्रुति में भेद और अभेद दोनों का वर्णन समान भाव से किया गया है। परमात्मा को सबका प्रेरक, ईश्वर, अधिपति, शासक और अन्तर्यामी माना गया है। बृह.उ. ४/४/२२ में इसका प्रमाण इस प्रकार है- '**एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिः**' अर्थात् यह परमात्मा ही सबका ईश्वर और समस्त भूत-प्राणियों का अधिपति है। मा.उ. ६ में भी इसे '**एष सर्वेश्वरः**' अर्थात् सबका ईश्वर कहा गया है। बृह.उप. ३/७/३ में भी इसके अन्तर्यामी

होने का उल्लेख मिलता है- **'एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः'** अर्थात् वह ब्रह्म समस्त प्राणियों का अन्तर्यामी है। इस प्रकार से भेद प्रतिपादक ऐसे अनेकों श्रुतिवचन देखने को मिलते हैं। इसी प्रकार अभेद की प्रतिपादक श्रुतियाँ भी देखने को मिलती हैं। यथा 'तत्त्वमसि' अर्थात् वह ब्रह्म तू है, (छा.उप. ६/८ वें से १६ वें खण्ड तक) में वर्णन मिलता है। बृह.उ. २/५/१९ में भी ऐसा ही संकेत मिलता है- **'अयमात्मा ब्रह्म'** अर्थात् 'यह आत्मा ब्रह्म है।' इस प्रकार से भेद और अभेद-दोनों की प्रामाणिकता में कुछ भी अन्तर नहीं है। अतः किसी एक पक्ष को विशेष और किसी एक को अविशेष कहना कभी भी संभव नहीं है। परमात्मा के दोनों पक्षों का समान भाव से श्रुतियों में उल्लेख किया गया है, इसलिए यहाँ दोनों पक्षों की मान्यता सिद्ध होती है॥३२॥

अब जिज्ञासा यह उठती है कि कहीं भेद -भाव से और कहीं अभेद भाव से उपासना के लिए आदेश देने का क्या अभिप्राय है ? अगले सूत्र में आचार्य इसी का समाधान प्रस्तुत करते हैं—

(३५२) बुद्ध्यर्थः पादवत्॥३३॥

सूत्रार्थ— पादवत् = अंग विहीन परब्रह्म के चार पाद बतलाये जाने के समान ही, बुद्ध्यर्थः = चिन्तन-मनन आदि उपासना के लिए वैसा उपदेश किया गया है।

व्याख्या— माण्डूक्य उपनिषद्-२ में वर्णन मिलता है कि जिस प्रकार से अंगरहित, रसस्वरूप परब्रह्म परमात्मा के तत्त्वज्ञान का विवेचन करने के लिए चार पादों की कल्पना करके श्रुति में उसके स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है, उसी प्रकार से भेद या अभेद भाव से उपासना का उपदेश उस परब्रह्म के तत्त्व का साक्षात्कार करने के लिए ही किया गया है; क्योंकि साधकों की प्रकृति अलग-अलग होती है। कोई साधक भेद उपासना को, तो कोई अभेद उपासना को स्वीकार करते हैं। किसी भी भाव से उपासना की जाये, साधक अपने एक निश्चित लक्ष्य को प्राप्त करता है। दोनों तरह की उपासना पद्धति से प्राप्त होने वाला तत्त्वज्ञान और भगवत् प्राप्ति रूप फल एक ही है। अतः परब्रह्म के तत्त्वज्ञान का साक्षात् कराने के लिए साधक की प्रकृति, पात्रता और विश्वास के अनुसार वेद में भेद या अभेद नामक उपासना का उल्लेख प्रायः ठीक ही है। उन्हें एकमात्र ब्रह्म की ही उपासना माननी चाहिए॥३३॥

अब आशंका यह होती है कि यदि ब्रह्म और उसकी दोनों प्रकृतियों में भेद नहीं है, तो ब्रह्म की परा प्रकृति रूप जो प्राणि-समुदाय हैं, उनमें भी आपस में भेद सिद्ध नहीं होगा। ऐसा सिद्ध होने से वेद में जो नानात्व का प्रतिपादन है, उसकी सङ्गति किस प्रकार होगी ? आचार्य अगले सूत्र में इसी का समाधान करते हैं—

(३५३) स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत्॥३४॥

सूत्रार्थ— प्रकाशादिवत् = प्रकाश आदि के सदृश, स्थानविशेषात् = शरीर रूप स्थान की विशेषता होने से भिन्न होना असंगत नहीं है।

व्याख्या— जिस तरह से समस्त प्रकाशमान पदार्थ प्रकाश-जाति की दृष्टि से समान तत्त्व वाले होने से एक ही हैं, किन्तु उनमें ग्रह, नक्षत्र, तारे, दीपक, अग्नि, सूर्य और चन्द्र आदि में स्थान और शक्ति-रूपादि का भेद होने से उक्त इन सभी में परस्पर भिन्नता दिखलाई देती है, उसी प्रकार भगवान् की परा-प्रकृति अर्थात् जड़ चेतन रूपात्मक सभी प्राणि-समुदाय अपने फल प्राप्ति रूप से विभिन्न प्रकार के दिखलाई देते हैं। फिर भी प्राणियों के अनादि कर्म-संस्कारों का जो समूह है, उसके अनुसार फल रूप में मिले हुए शरीर, बुद्धि और शक्ति आदि के तादात्म्य से उनमें आपस में भेद होना असङ्गत नहीं है। वे ब्रह्म की दोनों प्रकृतियों के सम्बन्ध से एक ही प्रकार के हैं॥३४॥

अगले सूत्र में आचार्य पुनः उक्त तथ्य को दृढ़ करने के लिए कहते हैं कि—

(३५४) उपपत्तेश्च॥३५॥

सूत्रार्थ— उपपत्तेः = श्रुति की विवेचना से, च = भी (यही बात प्रमाणित होती है)।

व्याख्या— वेद (श्रुति) में इस संसार के उद्‌भव से पूर्व एकमात्र अविनाशी परब्रह्म की ही सत्ता विवेचित की गई है। तदुपरान्त उसी ब्रह्म के द्वारा समस्त प्राणियों की उत्पत्ति का विवेचन करके उसे सबका अभिन्न-निमित्त-उपादान कारण प्रमाणित किया गया है। तत्पश्चात् 'तत्त्वमसि' आदि वचनों के द्वारा उस ब्रह्म को स्वयं से अभिन्न मानते हुए उसकी उपासना का उपदेश प्रदान किया गया है। पुनः उसी को भोक्ता, भोग्य आदि से सम्पन्न इस विचित्र जड़-चेतनमय जगत् का स्रष्टा, संचालक एवं जीवों के कर्मफल भोग और बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था बनाने वाला बताया गया है। प्राणि-समुदाय एवं उनके कर्म-संस्कारों को अनादि कहकर उनके उद्‌भव का निषेध किया गया है। उपर्युक्त सभी तथ्यों पर विचार करने से यह प्रमाणित होता है कि प्राणि-समुदाय चैतन्यता के कारण तो आपस में एक या अभिन्न हैं; किन्तु विभिन्न कर्म-संस्कारजनित सीमित व्यक्तित्व के कारण पृथक्-पृथक् हैं। प्रलय की स्थिति में समस्त प्राणी ब्रह्म में लय हो जाते हैं, सृष्टि काल में पुनः उसी ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं और ब्रह्म की ही परा प्रकृति के अन्तर्गत होने से उसी के अंश होते हैं। इसलिए भी वे ब्रह्म से अभिन्न कहे जाते हैं। ब्रह्म उनका नियामक होता है और सभी प्राणी उसके नियम्य होते हैं। इसलिए वे उस ब्रह्म से भी पृथक् हैं और परस्पर भी। यही मानना उचित होगा॥३५॥

अगले सूत्र में आचार्य पुनः उक्त तथ्य को दृढ़ कर रहे हैं—

(३५५) तथाऽन्यप्रतिषेधात्॥३६॥

सूत्रार्थ— तथा = और वैसे ही, अन्यप्रतिषेधात् = अन्य का निषेध होने से भी यही मान्यता उचित है।

व्याख्या— परब्रह्म से पृथक् अन्य किसी की सत्ता को श्रुति (वेद) ने नहीं स्वीकार किया है। यह बात ऊपर के सूत्रों में अनेक बार प्रतिपादित की जा चुकी है। कठोपनिषद् २/१/११ में भी परब्रह्म परमात्मा से भिन्न किसी दूसरी वस्तु की सत्ता का प्रतिषेध किया गया है। इससे भी यही प्रमाणित होता है कि परा और अपरा दोनों शक्तियों से युक्त वह परमात्मा ही विभिन्न रूपों में प्रकट होकर परिलक्षित हो रहा है। परब्रह्म की दोनों (परा, अपरा) प्रकृतियों में नानात्व होते हुए भी उस परब्रह्म में किसी भी तरह का कोई भेद नहीं है। वह परमात्मा सर्वथा विकाररहित, असङ्ग, अभेद और अखण्ड है। जब किसी दूसरे का अस्तित्व है ही नहीं, तब एकमात्र परब्रह्म परमात्मा का ही विभिन्न रूपों में उत्पन्न (प्रकट) होना स्वीकारने में किसी भी तरह का विरोध नहीं होना चाहिए। अतः यहाँ पर उक्त सूत्रों में विवेचित मान्यता ही उपयुक्त प्रमाणित होती है॥३६॥

उपर्युक्त सूत्रों में विवेचित तथ्य को ही सिद्ध करने हेतु आचार्य अगले सूत्र में एक दूसरी युक्ति प्रस्तुत करते हैं—

(३५६) अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः॥३७॥

सूत्रार्थ— अनेन = इस प्रकार भेद और अभेद के विवेचन द्वारा, आयामशब्दादिभ्यः = और श्रुति में जो ब्रह्म के व्यापकत्व सूचक शब्द आदि हेतु हैं; उनसे भी, सर्वगतत्वम् = उस (ब्रह्म) का सर्वत्र संव्याप्त होना सिद्ध होता है।

व्याख्या— परब्रह्म परमात्मा के सर्वत्र संव्याप्त होने के अनेक प्रमाण श्रुतियों में मिलते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् ३/९ एवं ईशोप.१ में वर्णन मिलता है कि 'उस सर्वश्रेष्ठ पुरुषोत्तम से यह समस्त जगत् संव्याप्त हो रहा है।' इसी प्रकार श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के आठवें अध्याय के २२ वें श्लोक में कहा गया है कि 'परमपुरुष वह है, जिससे यह सम्पूर्ण विश्व संव्याप्त हो रहा है।' इस प्रकार श्रुति-स्मृति दोनों के वचनों में जो परब्रह्म के सर्वत्र व्याप्त होने को सूचित करने वाले 'सर्वगत' आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उनसे और उपर्युक्त सूत्रों के विवेचन द्वारा भी यही सिद्ध होता है कि वह परब्रह्म सर्वत्र संव्याप्त है। सर्वथा अभेद मानने से भी इस व्याप्य-व्यापक भाव की सिद्धि नहीं

होगी। अत: यही निश्चय हुआ कि परब्रह्म परमात्मा अपनी दोनों- (परा-अपरा) प्रकृतियों से पृथक् भी है और अपृथक् भी; क्योंकि वे दोनों ही उनकी शक्तियाँ हैं। शक्ति एवं शक्तिमान् में भेद नहीं होता, इसलिए भी और उन प्रकृतियों के अभिन्न निमित्त-उपादानकारण होने के कारण भी वे उनसे अभिन्न हैं तथा इस प्रकार अभिन्न होते हुए भी उनके पालक होने से वे उनसे सतत विशेष लक्षणों से युक्त और सर्वोत्तम भी हैं॥३७॥

इस प्रकार उस परब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करने के पश्चात् अब इस तथ्य का समाधान करने के लिए प्राणियों के कर्मों का कर्मानुसार फल देने वाला कौन है? आचार्य अगले सूत्र से इसी प्रकरण का शुभारम्भ करते हैं—

(३५७) फलमत उपपत्तेः ॥३८॥

सूत्रार्थ— फलम् = प्राणियों के कर्मों का फल, अत: = इस परब्रह्म परमात्मा से ही मिलता है, उपपत्तेः = क्योंकि ऐसा मानना ही उपयुक्त है।

व्याख्या— समस्त प्राणी परब्रह्म परमात्मा के आश्रय में ही अपने कर्म-फल रूपी भोगों को भोगते हैं; क्योंकि कर्मों का ज्ञाता एवं सर्वशक्तिमान् होने के कारण परब्रह्म ही ऐसी सामर्थ्य रख सकता है। परब्रह्म के अतिरिक्त न तो जड़-प्रकृति ही कर्मों को जानने एवं उनके फल की व्यवस्था करने में समर्थ है और न स्वयं जीवात्मा ही समर्थ है; क्योंकि वे दोनों ही अल्पज्ञ और अल्पशक्ति वाले हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के ७/२२ में कहा गया है कि 'कहीं-कहीं जो देवता आदि को कर्मों का फल-प्रदाता बतलाया है, वह भी भगवान् के विधान को लेकर बताया गया है, भगवान् ही उनको अपना निमित्त बनाकर कर्मकृत-फल प्रदान करते हैं। यहाँ इस प्रतिपादन से यह प्रमाणित होता है कि प्राणियों के कर्मफल-भोग विधि-व्यवस्था बनाने वाला एकमात्र वह परब्रह्म परमात्मा ही है, अन्य कोई नहीं हो सकता॥३८॥

अब जिज्ञासा होती है कि क्या केवल युक्ति से ही यह बात सिद्ध होती है या फिर इसमें श्रुति आदि प्रमाण भी हैं? सूत्रकार अगले सूत्र में इसी का समाधान प्रस्तुत करते हैं—

(३५८) श्रुतत्वाच्च ॥३९॥

सूत्रार्थ— श्रुतत्वात् = श्रुति में ऐसा ही कथन होने से, च = भी (यही मानना उचित है कि कर्मफल की प्राप्ति परब्रह्म परमात्मा से ही होती है)।

व्याख्या— यह बात वेदों में जगह-जगह पर बारम्बार देखने को मिलती है कि प्राणियों के कर्मफल का द्रष्टा व प्रदाता एकमात्र परब्रह्म परमात्मा ही है। तैत्तिरीय उपनिषद् में भी परब्रह्म को ही 'महान् अज आत्मा कर्मफल प्रदाता' कहा गया है। अन्य श्रुतियाँ भी ऐसा ही बतलाती हैं, देखें- कठोपनिषद् २/२/८ में ऋषि इस प्रकार कहते हैं- **'य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते'** अर्थात् जो यह प्राणियों के कर्मानुसार विभिन्न तरह के भोगों का निर्माण करने वाला परम पुरुष परब्रह्म प्रलय काल में सबके सो जाने पर भी जागता रहता है, वही परम पवित्र है, वही ब्रह्म है और उसे ही अमृत कहा जाता है। ऐसा ही उल्लेख श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/१३ में किया गया है, देखें- **'नित्यो नित्यानाम् चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्'** अर्थात् 'जो एक, नित्य, परमचेतन, परब्रह्म बहुत से नित्य, चेतन आत्माओं के कर्मफल-भोग के विधान का नियम बनाता है।' इस प्रकार से इन श्रुति-दृष्टान्तों से यही सिद्ध होता है कि प्राणियों के कर्मफल की व्यवस्था बनाने वाला एकमात्र परब्रह्म परमात्मा ही है, अन्य और कोई नहीं॥३९॥

उक्त विषय के सन्दर्भ में सूत्रकार अगले सूत्र में आचार्य जैमिनि का मत प्रस्तुत करते हैं—

(३५९) धर्मं जैमिनिरत एव॥४०॥

सूत्रार्थ— अत एव = अत: पूर्वोक्त कारणों से ही, जैमिनिः = आचार्य जैमिनि, धर्मम् = धर्म (कर्म) को ही फल-प्रदाता बतलाते हैं।

व्याख्या— आचार्य जैमिनि की मान्यता है कि युक्तियों और वैदिक प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि धर्म अर्थात् कर्म स्वयं ही फल-प्रदाता है; क्योंकि यह प्रत्यक्ष रूप से प्राय: देखा जाता है कि कृषि आदि कर्म करने का अन्न की उत्पत्ति स्वरूप फल होता है। ऐसे ही श्रुति में भी 'अमुक फल की इच्छा हो, तो अमुक कार्य करना चाहिए।' इस प्रकार विधि-कथन होने से यही प्रमाणित होता है कि कर्म स्वयमेव फल-प्रदाता है। उससे पृथक् किसी कर्मफल-प्रदाता की कल्पना करना अनिवार्य नहीं है। जिस कर्म के द्वारा फल का उद्‌भव होता है, वह कर्म परब्रह्म से ही प्रकट होता है। धर्म, कर्म का ही पर्याय है। आचार्य जैमिनि के मतानुसार कर्म ही फल का देने वाला है। अत: श्रेष्ठ कर्म से श्रेष्ठ फल की प्राप्ति और निकृष्ट कर्म से निकृष्ट फल की प्राप्ति होना प्रमाणित होता है ॥४०॥

अगले सूत्र में सूत्रकार आचार्य जैमिनि के उपर्युक्त कथन को अयुक्त सिद्ध करते हुए अपने मत की ही उपादेयता बतलाते हैं—

(३६०) पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥४१॥

सूत्रार्थ— तु = किन्तु, बादरायण:= आचार्य वेदव्यास, पूर्वम् = पूर्वोक्त परब्रह्म को ही कर्मफल प्रदाता मानते हैं, हेतुव्यपदेशात् = क्योंकि श्रुति में उस ब्रह्म को सबका कारण कहा गया है, (अत: यहाँ पर आचार्य जैमिनि का कथन उचित है, ऐसा प्रतीत नहीं होता)।

व्याख्या— आचार्य वेदव्यास जी आचार्य जैमिनि के विचार से सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि आचार्य जैमिनि जो कर्म को ही फल-प्रदाता कहते हैं, वह उचित नहीं है; क्योंकि कर्म तो निमित्त-मात्र होता है। वह जड़, परिवर्तनशील एवं क्षणभंगुर होने से फल की व्यवस्था करने में समर्थ नहीं हो पाता। अत: जैसा कि पूर्व के सूत्रों में बतलाया गया है कि एकमात्र वह परब्रह्म परमात्मा ही जीवों-प्राणियों के कर्मानुसार फल प्रदाता है। श्रुति (वेद) भी परब्रह्म परमात्मा को ही समस्त प्राणियों का हेतु (कारण) बतलाती है ॥४१॥

॥ इति तृतीयाध्यायस्य द्वितीय: पाद: समाप्त: ॥

॥ अथ तृतीयाध्याये तृतीयः पादः ॥

द्वितीय पाद के अन्तर्गत जीव की स्वप्न और सुषुप्ति का विवेचन करने के उपरान्त परब्रह्म के स्वरूप के सन्दर्भ में यह स्पष्ट किया गया कि वह साकार-निराकार दोनों लक्षणों से युक्त है। तदुपरान्त उस ब्रह्म का अपनी शक्ति स्वरूपा परा और अपरा प्रकृतियों से किस तरह भेद और अभेद है, यह भी स्पष्ट किया गया और अन्त में यह भी स्पष्ट किया गया कि प्राणियों के कर्मफल की व्यवस्था बनाने वाला एक मात्र वह परम-आत्मा ही है।

अब वेदान्त वचनों में जो एक ही आत्मविद्या का अनेक प्रकार से उल्लेख किया गया है, उसकी एकता बतलाने एवं विभिन्न जगहों में आये हुए भगवत् प्राप्ति सम्बन्धी भिन्न-भिन्न वाक्यों के विरोध हटाकर उनके एकत्व को बतलाने के लिए तृतीय पाद का शुभारम्भ करते हैं—

(३६१) सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥१ ॥

सूत्रार्थ— सर्ववेदान्तप्रत्ययम् = समस्त श्रुतियों (वेद-उपनिषदों) में एक ही अध्यात्मविद्या का विवेचन होने से, वह (विद्या) अभिन्न है, चोदनाद्यविशेषात् = क्योंकि आज्ञार्थक-विधायक शब्दादि में भेद नहीं होता।

व्याख्या— वेद-उपनिषद् आदि सभी श्रुतियों में जो विभिन्न तरह की अध्यात्म-विद्याओं का प्रतिपादन किया गया है, उन सबमें विधि-वचनों (शब्दादि) की समानता है। उन सबमें एकमात्र उस अविनाशी परब्रह्म के साक्षात्कार की ही चर्चा की गई है और सभी का अभीष्ट उसी को बतलाया गया है, अत: उन सभी की समानता है। एक ओर तो छा.उ. १/४/१ में **'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत'** अर्थात् 'ॐ यह अक्षर उद्‌गीथ है, ऐसी उपासना करे'। इस तरह के विभिन्न वाक्यांशों में प्रतीकोपासना का वर्णन करके उसके द्वारा ब्रह्म को लक्ष्य कराया गया है, तो अन्यत्र (तै.२/१ में) उसे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप और अन्तरहित है। मा.उ.- ६ में उसे सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सभी भूतों की उत्पत्ति और प्रलय का केन्द्रक कहा गया है। इस तरह विधि मुख से उसके कल्याणकारी दिव्य रूपों से उसे निरूपित किया गया और कहीं पर अर्थात् कठोपनिषद् १/३/१५ में उसे शब्द से परे, अस्पर्श, अरूप, नीरस,गन्धरहित एवं शाश्वत, नित्य, अनादि, अनन्त कहा गया है। इस तरह से सभी जड़ और चेतन से पृथक् कहकर उस ब्रह्म का लक्ष्य (बोध) कराया गया है और बाद में यह भी कहा गया कि उसे प्राप्त कर साधक जन्म-मृत्यु से भी मुक्त हो जाता है।

उक्त सभी दृष्टान्तों का एक मात्र उद्देश्य उस ब्रह्म को लक्ष्य कराकर उसे पा लेना है। सर्वत्र प्रकार भेद से उस ब्रह्म का ही चिन्तन करना बतलाया गया है। अत: विधि एवं साध्य की समानता से साधन रूप विद्याओं में यथार्थ भेद नहीं है, अधिकारी के भेद से प्रकार भेद देखने को मिलता है।

इसके अतिरिक्त जो अन्य शाखाओं के द्वारा विवेचित एक ही तरह की विद्याओं में आंशिक भेद दिखाई देता है, उसके द्वारा भी विद्याओं में अभेद ही मानना चाहिए, क्योंकि उनमें सभी जगह विधि वचन और फल की समानता है, अत: उनमें कोई यथार्थत: भेद नहीं होता है॥१ ॥

दृष्टान्तों के प्रतिपादन-शैली में कुछ भेद होने पर भी अध्यात्म-विद्या में भेद नहीं मानना चाहिए। आचार्य अगले सूत्र में इसी की विवेचना प्रस्तुत करते हैं—

(३६२) भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि ॥२ ॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि ऐसा कहो कि , भेदात् = वहाँ उन स्थलों में प्रतिपादन करने की शैली का भेद है, अत:, न = समानता सिद्ध नहीं होती, इति न = तो, ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि, एकस्याम् = एक विद्या में, अपि = भी (इस तरह के प्रतिपादन का भेद होना उचित ही है, अनुचित नहीं)।

व्याख्या— उस अविनाशी परब्रह्म को श्रुतियों में कहीं सत्, कहीं सर्वज्ञ, कहीं विज्ञान-आनन्दमय, कहीं सर्वव्यापक, तो कहीं साकार ब्रह्म आदि कहकर उपासना विधि भी उसके अनुरूप कही गई है। यहाँ इस

प्रकार के भेदपूर्ण वर्णन से श्रुति- वाक्यों की एकता-समानता प्रमाणित नहीं होती। यदि ऐसा कहा जाय; तो यह अनुचित है; क्योंकि समस्त श्रुति-स्मृतियों ने जगत् के उत्पन्न होने के पूर्व एकमात्र अविनाशी सत् तत्त्व ब्रह्म को ही कारण रूप में स्थित कहा है। उसे ही '**आत्मा, प्रजापति, आनन्दमय और अव्याकृत**' नाम से श्रुति वाक्यों में विवेचित किया गया है। वे समस्त श्रुतियाँ उस ब्रह्म की उपासना के उद्देश्य से ही कर्म-विधि का निर्देशन करती हैं; किन्तु शैली-भाव और प्रतिपादन के अनुसार उनके विधान में अन्तर हो सकता है। इससे स्पष्ट हुआ कि विभिन्न तरह से उपासना-विधि बतलाकर भी एक ही परब्रह्म की उपलब्धि का उद्देश्य इन श्रुति वाक्यों में समाहित है। इस प्रकार से एक ही सत् तत्त्व का प्रतिपादन करने वाली एक ही अध्यात्म विद्या में वर्णन का भेद होना ठीक नहीं है। उद्देश्य एवं परिणाम एक होने से उन सभी की समानता ही है॥२॥

मुण्डकोपनिषद् ३/२/१० में वर्णन मिलता है कि 'जिसने शिरोव्रत अर्थात् सिर पर जटा धारण करके ब्रह्मचर्य व्रत का नियमतः पालन किया हो, उसे ही इस अध्यात्म विद्या का उपदेश देना चाहिए।' लेकिन अन्य शाखा वालों ने ऐसा नहीं बतलाया। अतः यहाँ इस शाखा में वर्णित अध्यात्म विद्या का अन्य शाखाओं में वर्णित अध्यात्मविद्या से निश्चय ही भेद होना चाहिए। इस आशंका का समाधान आचार्य अगले सूत्र में बतला रहे हैं—

(३६३) स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः॥३॥

सूत्रार्थ— स्वाध्यायस्य = (शिरोव्रत का पालन) अध्ययन का (अङ्ग है), हि = क्योंकि, समाचारे = आथर्वणिक शाखा के उपदेश में, तथात्वेन = अध्ययन के अङ्गरूप से ही उसका नियम है, च = और, अधिकारात् = उस व्रत का पालन निभाने वाले का ही अध्यात्मविद्या के अध्ययन में अधिकार होने से, च = भी, सववत् = '**सव**' होम की तरह, तन्नियमः = वह शिरोव्रत वाला नियम आथर्वणिकों के लिए ही है।

व्याख्या— अथर्वण शाखा की मुण्डकोपनिषद् ३/२/१० में कहा गया है कि 'उन्हीं को इस अध्यात्म विद्या का उपदेश देना चाहिए, जिसने विधिपूर्वक शिरोव्रत का पालन किया है।' उपर्युक्त शाखा वालों के लिए जो शिरोव्रत के पालन का नियम निर्धारित किया गया है, वह विद्या के भेद से नहीं, बल्कि उन शाखा वालों के पठन सम्बन्धी परम्परागत आचरण में ही यह नियम दीर्घकाल से चला आ रहा है कि जो शिरोव्रत के नियम को निभाता हो, उसे ही उपर्युक्त अध्यात्म विद्या का उपदेश प्रदान करना चाहिए। एकमात्र उसे ही उस ब्रह्मविद्या की प्राप्ति में अधिकार है। जिसने शिरोव्रत को नहीं निभाया, उसका उस ब्रह्मविद्या के अध्ययन में अधिकार नहीं है। जैसे 'सव' (यज्ञ) में मन्त्रों के स्मरण का विधान उन्हीं की शाखा वालों के लिए है, वैसे ही इस शिरोव्रत के निभाने का विधान भी उन्हीं (स्वाध्याय करने वाले) लोगों के लिए है। अतः यह नियम एकमात्र पठन-पाठन से सम्बन्धित होने से इससे ब्रह्म विद्या की समानता (एकता) में किसी भी तरह का कोई विरोध नहीं है॥३॥

सभी उपनिषदों में एक ही परब्रह्म के स्वरूप को व्यक्त करने के लिए ही प्रकार भेद से अध्यात्म (ब्रह्म) विद्या का उल्लेख मिलता है। आचार्य अगले सूत्र में इसी तथ्य को वेद प्रमाण से भी प्रमाणित करते हैं—

(३६४) दर्शयति च॥४॥

सूत्रार्थ— च = तथा, दर्शयति = श्रुति (भी) ऐसा ही दिखलाती है।

व्याख्या— वेदों - श्रुतियों में भी अध्यात्म (ब्रह्म) विद्या की अभिन्नता प्रतिपादित की गई है। कठोपनिषद् १/२/१५ में वर्णन किया गया है कि '**सर्वेवेदायत्पदमामनन्ति**' अर्थात् सभी वेद (श्रुतियों ने) जिस (उस) परम प्राप्य परब्रह्म ॐ का प्रतिपादन करते हैं। ऐसा ही प्रतिपादन अन्यान्य श्रुतियों में भी किया गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/११ में स्पष्ट संकेत दिया गया है- '**एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः**' अर्थात् एक ही देव सम्पूर्ण प्राणियों में छिपा है। तैत्ति. २/७/१ में कहा गया है कि 'ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है, उसके नानात्व व अनेकता की श्रुतियों

(उपनिषदों) में निन्दा की गई है। ऋग्वेद १/५२/१ में भी एकमात्र ब्रह्म की अभिन्नता व उपासना का स्पष्ट वर्णन मिलता है- 'एक ही परब्रह्म ने अपने से अतिरिक्त इस समस्त विश्व को अपने नियन्त्रण में किया हुआ है। उसी की उपासना वरणीय है।' गीता के अ.५/१५ में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है- **'वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्यः'** अर्थात् 'सभी वेदों के द्वारा एकमात्र मैं (परमेश्वर)ही जानने योग्य हूँ।' इस प्रकार श्रुति- स्मृति में एकमात्र एक ही परमेश्वर की अभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। अतः उक्त दृष्टान्तों -पुष्ट वचनों से यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म (अध्यात्म) विद्या अलग-अलग नहीं, एक ही है॥४॥

परब्रह्म की अभिन्नता के प्रतिपादन में एक स्थान की अपेक्षा दूसरी जगह कुछ बातें अधिक और कहीं कम बातें कही गई हैं। ऐसी स्थिति में विभिन्न प्रकरणों के वर्णन की समानता कैसे होगी ? इसी का समाधान सूत्रकार अगले सूत्र में करते हैं—

(३६५) उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च॥५॥

सूत्रार्थ— समाने = एक ही तरह की विद्या में, च = ही, अर्थाभेदात् = अर्थ (प्रयोजन) में भेद न होने से, उपसंहारः = एक स्थान पर कहे हुए गुणों का दूसरे स्थान पर उपसंहार कर लेने, विधिशेषवत् = विधिशेष की भाँति (ठीक ही है)।

व्याख्या— जिस तरह कर्मकाण्ड में प्रयोजन (अर्थ) का भेद न होने से एक शाखा में कहे हुए अग्निहोत्रादि के विधिशेषरूप यज्ञादि धर्मों का अन्यत्र (अन्य शाखा वालों द्वारा) भी उपसंहार रूप से स्वीकार कर लिया जाता है, उसी तरह से विभिन्न प्रकरणों के द्वारा व्यक्त हुई ब्रह्मविद्या के प्रतिपादन में भी प्रयोजन भेद न होने से एक स्थान पर व्यक्त की हुई बातों का अन्यत्र अर्थात् अन्य शाखा वाले उपसंहार (स्वीकार) कर लेते हैं, यही उचित भी है॥५॥

श्रुति में जितनी भी ब्रह्मविद्याएँ विवेचित हैं, उनमें कहीं शब्दभेद, तो कहीं नाम भेद और कहीं प्रकरण भेद से भिन्नता दिखाई देती है; अतः इसकी समानता का वर्णन करने हेतु अगले सूत्र में स्वयं सूत्रकार शङ्का उत्पन्न करके समाधान प्रस्तुत करते हैं—

(३६६) अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात्॥६॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि यह कहें कि, शब्दात् = कहे हुए शब्द द्वारा, अन्यथात्वम् = दोनों विद्याओं की भिन्नता प्रतीत होती है, अतः एकता प्रमाणित नहीं होती, इति न = तो ऐसा नहीं है, अविशेषात् = क्योंकि विधि और फल आदि में भेद (विशेषता) न होने से (दोनों विद्याओं में समानता है)।

व्याख्या— यदि यह कहें कि दोनों तरह से ब्रह्मविद्या का वर्णन होने से वे दोनों विद्याएँ अलग-अलग हैं, क्योंकि छा.उ. ८/१/१ और ८/७/१ में दहर विद्या और प्राजापत्य विद्या नामक दो तरह की विद्याओं का उल्लेख प्राप्त होता है। ये दोनों विद्याएँ परब्रह्म की प्राप्ति का मार्ग बतलाने वाली हैं, इस कारण से इनकी समानता मानी जाती है। इसमें आशंका होती है कि दोनों विद्याओं में शब्द का अन्तर है अर्थात् छा.उ. ८/१/१ में दहरविद्या के प्रकरण में मनुष्य देहरूप ब्रह्मपुर में हृदय रूप घर में जो आन्तरिक आकाश है तथा उसके भीतर जो वस्तु है, उसे जानना चाहिए।' ऐसे ही छा. उ. ८/७/१ में प्राजापत्यविद्या के प्रकरण में 'अपहतपाप्मा' आदि विशेषणों से सम्पन्न आत्मा को जानने के योग्य बतलाया गया है। इस प्रकार दोनों विद्याओं के भिन्नत्व से वे एक नहीं हैं। इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि दहरविद्या में जिसे जानने योग्य बतलाया गया है, उसे (ब्रह्म को) प्राजापत्य विद्या में आत्मा रूप से उस परमात्मा को सबका आश्रय कहने के लिए पहले उसके अन्दर की वस्तुओं को जानने के लिए कहा गया है। इस प्रकार दोनों विद्याओं में यथार्थतः कोई भेद न होने से भिन्न प्रकार से विवेचन होने पर

भी उनमें एकता (समानता) ही होती है। ऐसे ही अन्यत्र दूसरी विद्याओं में भी समानता स्वीकारनी चाहिए॥६॥

अब सूत्रकार अगले सूत्र में विद्याओं की समानता को सिद्ध करने के लिए अन्य असमान विद्याओं से उनकी विशिष्टता का विवेचन करते हैं—

(३६७) न वा प्रकरणभेदात्परोऽवरीयस्त्वादिवत्॥७॥

सूत्रार्थ— वा = अथवा, परोऽवरीयस्त्वादिवत् = परम श्रेष्ठ अथवा सामान्य आदि गुणों से युक्त अन्य विद्याओं के सदृश, प्रकरणभेदात् = प्रकरण के भेद से (उक्त दोनों विद्याएँ), न = भिन्न सिद्ध नहीं हो सकतीं।

व्याख्या— छान्दोग्य और बृहदारण्यक दोनों उपनिषदों में उद्‌गीथ-विद्या का उल्लेख मिलता है। छा.उ. १/१ के पूर्व खण्ड में जो उद्गीथ-विद्या विवेचित है, वह अतिश्रेष्ठ है; क्योंकि वहाँ पर उद्गीथ की 'ॐ' कार के साथ एकत्व स्थापित करके उसका महत्त्व प्रवर्द्धित किया गया है। इसलिए (छा.उ. १/९/१ से ४ तक में) उसका फल भी अत्यधिक श्रेष्ठतम विवेचित किया गया है, किन्तु (बृह०उ० १/३/१ से २७ तक में) उद्‌गीथ विद्या एकमात्र प्राणों का श्रेष्ठत्व सम्पादन करने हेतु एवं यज्ञादि में उद्‌गीथ गान की अवधि में स्वर की विशिष्टता दिखलाने के लिए है। अत: वहाँ पर उसका फल भी वैसा नहीं कहा गया है। दोनों उपनिषदों में केवल देवासुर-संवाद सम्बन्धी एकता है; किन्तु उसमें भी उपासना की विधि में भिन्नता है। अत: किञ्चित्‌मात्र एकता के कारण दोनों की एकता नहीं हो सकती। एकता के लिए उद्देश्य, कारण विधेय एवं फल की एकता चाहिए, जो कि उन उपनिषदों में नहीं है। इसलिए उनमें भिन्नता होना ठीक है; किन्तु ऊपर विवेचित दहर और प्राजापत्य विद्या में ऐसा नहीं है, मात्र विवेचन की भिन्नता है। अत: विवेचन मात्र की भिन्नता होने से उत्तम और मध्यम आदि की भिन्नता से सम्पन्न उद्गीथ विद्या के सदृश ऊपर वर्णित दहर और प्राजापत्य विद्या में भिन्नता सिद्ध नहीं हो सकती; क्योंकि दोनों के उद्देश्य, विधेय एवं फल में पृथक्ता नहीं है। अत: यहाँ पर दोनों विद्याओं का भिन्नत्व सिद्ध नहीं होता॥७॥

अगले सूत्र में आचार्य अन्य तरह की आशङ्का का उत्तर देकर दोनों विद्याओं की समानता को पुष्ट करते हैं—

(३६८) संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि॥८॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि यह कहो कि, संज्ञात: = परस्पर संज्ञात्मक भिन्नता होने के कारण (समानता सिद्ध नहीं हो सकती) तो , तदुक्तम् = उसका उत्तर (सूत्र ३/१/१ में) दिया जा चुका है, तु = तथा, तदपि = वह (संज्ञात्मक भिन्नता से होने वाली विद्याविषयक विषमता) भी, अस्ति = अन्यत्र वर्णित है।

व्याख्या— यदि ऐसा कहें कि उसमें संज्ञात्मक अर्थात् नाम का भेद है, उस विद्या का नाम दहर और दूसरी का नाम प्राजापत्य विद्या है। अत: दोनों की समानता नहीं हो सकती, ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं; तो इसका उत्तर पहले ही सूत्र ३/३/१ में दिया जा चुका है। वहाँ कहा जा चुका है कि सभी उपनिषदों में पृथक्-पृथक् नामों से जिन अध्यात्म (ब्रह्म) विद्याओं का उल्लेख किया गया है, उन सभी में विधिवाक्य, फल एवं उद्देश्य-विधेय आदि की समानता होने के कारण सभी ब्रह्म विद्याओं में समानता है। अत: यहाँ संज्ञात्मक नाम-भेद से किसी भी तरह का कोई विरोध नहीं है। इसके अतिरिक्त छा.उ. ३/१८/१ और ३/१९/१ में कहा गया है कि जिनमें उद्देश्य, विधेय और फल आदि की एकता नहीं है, उन विद्याओं में संज्ञात्मक नाम आदि से भेद होता है तथा वैसी ही विद्याओं का उल्लेख भी उपनिषदों में ही मिलता है; किन्तु उन विद्याओं से ब्रह्मविद्या का किसी भी तरह का सम्बन्ध नहीं है॥८॥

संज्ञात्मक नाम का भेद होने से भी विद्या में समानता हो सकती है, इस बात को सिद्ध करने हेतु आचार्य अगले सूत्र में एक अन्य कारण बतलाते हैं—

(३६९) व्याप्तेश्च समञ्जसम्॥९॥

सूत्रार्थ— व्याप्तेः = ब्रह्म सर्वत्र संव्याप्त है, इस कारण; च = भी, समञ्जसम् = ब्रह्म विद्याओं के विवेचन में समानता है।

व्याख्या— परब्रह्म की व्यापकता सर्वत्र प्रसिद्ध है। श्रुतियों-स्मृतियों में एकमात्र परब्रह्म के सर्वव्यापकत्व का ही प्रतिपादन किया गया है। परमात्मा सर्वव्यापक होने के साथ-साथ सर्वशक्तिमान् एवं सर्वज्ञ भी है। इसी कारण ब्रह्म-सम्बन्धी विद्या के पृथक्-पृथक् नाम एवं प्रकरण के आने पर भी उनकी समानता (एकता) होना ठीक ही है; क्योंकि उन ब्रह्म सम्बन्धी समस्त आध्यात्मिक विद्याओं का उद्देश्य एकमात्र परब्रह्म के स्वरूप को ही भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रस्तुत करना है। इसलिए बह्मविद्याओं का विभिन्न प्रकार से विवेचन होने से भी वे सब एक ही हैं तथा समस्त विद्याओं का उद्देश्य एकमात्र परब्रह्म की प्राप्ति ही प्रमाणित होता है॥९॥

अब जिज्ञासा उठती है कि विद्याओं की समानता एवं भिन्नता के निर्णय हेतु प्रकरण, संज्ञा एवं विवेचन की समानता और भेद की अपेक्षा है या नहीं? सूत्रकार अगले सूत्र में इसी का समाधान दे रहे हैं—

(३७०) सर्वाभेदादन्यत्रेमे॥१०॥

सूत्रार्थ— सर्वाभेदात् = सर्वस्वरूप परब्रह्म सम्बन्धी समस्त विद्याओं के अभेद से, अन्यत्र = अन्य स्थल पर दूसरी विद्या के सम्बन्ध में, इमे = इन पूर्व सूत्रों में कहे हुए सभी हेतुओं का उपयोग हुआ है।

व्याख्या— विभिन्न स्थलों में विभिन्न तरह से विवेचित ब्रह्म से सम्बन्धित अन्य विद्याओं में भी भेद नहीं होता; क्योंकि अन्य जगहों में विवेचित समस्त हेतु परब्रह्म की प्राप्ति के लिए ही कहे गये हैं। इससे प्रमाणित होता है कि परब्रह्म से सम्बन्धित समस्त विद्याएँ अभिन्न हैं। परमात्मा सबसे अभिन्न एवं सर्वस्वरूप है। इसलिए उसके तत्त्वज्ञान का प्रतिपादन करने वाली आध्यात्मिक विद्याओं में कोई भेद नहीं रहता। अतः संज्ञा, प्रकरण एवं शब्दों से इन विद्याओं की भिन्नता प्रमाणित नहीं की जा सकती; क्योंकि ब्रह्म के लिए सभी संज्ञाएँ हो सकती हैं। हर प्रकरण में ब्रह्मविद्या की बात आ सकती है और उसकी विवेचना भी पृथक्-पृथक् सभी शब्दों से की जा सकती है; किन्तु ब्रह्मविद्या के अलावा जो अन्य विद्याएँ हैं, जिनका उद्देश्य ब्रह्म का विवेचन करना नहीं है; उनकी एक दूसरे से पृथक्ता या अपृथक्ता को जानने के लिए पूर्व सूत्रों में कहे हुए प्रकरण, संज्ञा एवं शब्द नामक तीनों हेतुओं का प्रयोग किया जा सकता है। अतः उपर्युक्त प्रतिपादनों से प्रमाणित हो जाता है कि परब्रह्म के विवेचन के सन्दर्भ में समस्त विद्याएँ एक हैं, अन्य नहीं॥१०॥

अगले सूत्र में शिष्य जिज्ञासा करता है कि वे कौन से गुण हैं, जिनका वर्णन एक स्थान पर होकर अन्यत्र भी उनका सम्बन्ध हो जाता है? सूत्रकार इसी का समाधान दे रहे हैं—

(३७१) आनन्दादयः प्रधानस्य॥११॥

सूत्रार्थ— आनन्दादयः = आनन्द आदि, प्रधानस्य = प्रधान अर्थात् परब्रह्म परमात्मा के धर्म (गुण) हैं। (उन समस्त आनन्दादि गुणों का अन्यत्र भी ब्रह्म के वर्णन में अध्याहार किया जा सकता है)।

व्याख्या— परब्रह्म परमात्मा के जिन आनन्दादि गुणों (धर्मों) का वर्णन श्रुति में एक स्थल पर किया गया है, उन्हीं गुणों का उपसंहार (अध्याहार) अन्य स्थलों पर भी कर लिया जाता है। इस कारण जिन विशेष गुणों की विशिष्टता पूर्व में व्यक्त करने से रह गई है, वह अन्यत्र प्रतिपादित की जा चुकी है या कर देनी चाहिए। सूत्रकार ने यहाँ पर 'प्रधान' पद को ब्रह्म का बोधक बतलाया है; वह (ब्रह्म) सभी चेतन-अचेतन जगत् का संचालक जीवनदाता है। सूत्र के 'आदि' पद से सत्य, ज्ञान एवं उसकी व्यापकता आदि का ग्रहण (बोध) होता है। परमात्मा के आनन्द, सत्य, तत्त्वज्ञान आदि ऐसे गुण हैं, जिनको सभी उपासनाओं में सम्मिलित होना मानना चाहिए, चाहे वहाँ इनकी विवेचना भले ही न की गई हो। इसका तात्पर्य यह है कि सभी उपासनाओं में उपास्य एकमात्र ब्रह्म ही है। ये सभी गुण ब्रह्म के यथार्थ रूप को प्रकट करते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् में इन

गुणों का जैसा स्पष्ट व विस्तृत उल्लेख किया गया है, अन्यत्र नहीं देखने को मिलता। अत: अन्यत्र विवेचित उपासनाओं में जिज्ञासु को परब्रह्म के ऐसे दिव्य स्वरूप का चिन्तन-मनन करना अनिवार्य होने से यहाँ इन श्रेष्ठ गुणों का सम्बन्ध मान लेना चाहिए॥११॥

अब आशंका होती है कि तैत्ति. उप. में ब्रह्म के 'प्रियशिरस्त्व' अर्थात् प्रिय ही उसका सिर है आदि गुणों (धर्मों) का वर्णन है। क्या उनका भी सर्वत्र ब्रह्मविद्या में संग्रह हो सकता है? इसी का अगले सूत्र में आचार्य समाधान करते हैं—

(३७२) प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे॥१२॥

सूत्रार्थ— प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिः = 'प्रियशिरस्त्व' अर्थात् 'प्रियरूप सिर का होना' आदि लक्षणों की प्राप्ति अन्यत्र ब्रह्मविद्या के प्रकरण में नहीं होती है; हि = क्योंकि, भेदे = इस प्रकार सिर आदि अङ्गों का भेद मानने पर, उपचयापचयौ = परबह्म में वृद्धि और ह्रास का दोष -प्रसङ्ग उपस्थित होगा।

व्याख्या— तैत्तिरीयोपनिषद् के ब्रह्मानन्दवल्ली के पाँचवे अनुवाक के प्रथम सूत्र में वर्णिन आता है- **तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणपक्षः। प्रमोदः उत्तरपक्षः।** आनन्द आत्मा का 'प्रेम' सिर है, मोद दाहिना पक्ष है, प्रमोद उत्तर पक्ष (अर्थात् दायें-बाएँ हाथ) हैं। आनन्द उस आत्मा रूप देह का मध्य भाग है और ब्रह्म ही उसका पुच्छ एवं आधार है। इस प्रकार पक्षी का रूपक प्रदान करके उपनिषद्कार ने जो अङ्गों की कल्पना की है, यह ब्रह्म का स्वरूपगत धर्म नहीं प्रतीत होती है। इस कारण इसका संग्रह अन्यत्र ब्रह्मविद्या के अन्तर्गत करना उचित नहीं लगता; क्योंकि इस प्रकार अङ्ग-प्रत्यङ्गों के भेद से ब्रह्म में भेद मान लेने पर उसमें वृद्धि और ह्रास के दोषों की आशङ्का उत्पन्न होगी। अत: परब्रह्म के जो सहज (धर्म) लक्षण न हों, जो किसी रूपक को लक्ष्य मानकर कहे गये हों, उन्हें अन्यत्र प्रयोग में नहीं लेना चाहिए॥१२॥

उक्त प्रकरण में जो आनन्द एवं ब्रह्म शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उनको अन्यत्र लेना चाहिए अथवा नहीं? सूत्रकार इस जिज्ञासा का समाधान यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

(३७३) इतरे त्वर्थसामान्यात्॥१३॥

सूत्रार्थ— तु = परन्तु , इतरे = अन्य जो आनन्द आदि धर्म (गुण) हैं, वे (ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करने हेतु श्रुति में कहे गये हैं, अत: अन्यत्र ब्रह्मविद्या के सन्दर्भ में उन्हें स्वीकार किया जा सकता है), अर्थसामान्यात् = क्योंकि वे सभी अर्थ की समानता के उद्देश्य से व्यक्त किये गये हैं।

व्याख्या— अंग-अवयवों की कल्पना से सम्पन्न जो 'प्रियशिरस्त्व' आदि धर्म (गुण) हैं, वे तो रूपक मात्र ही हैं। उक्त गुणों से पृथक् दूसरे-अन्य 'आनन्द' आदि स्वरूपगत धर्म हैं, वे परब्रह्म के सहज-स्वाभाविक गुण हैं, उनका अर्थ भी गुणवत् ही है। अत: उन आनन्दादि गुणों का विवेचन ही युक्तिसंगत है। उन श्रेष्ठ गुणों का संग्रह हर एक ब्रह्मविद्या के प्रसङ्ग-प्रकरण में विवेचित किया जा सकता है; क्योंकि उनमें अर्थ की एकता है अर्थात् उन समस्त गुणों के द्वारा प्रतिपाद्य परब्रह्म मात्र एक ही है॥१३॥

उपर्युक्त सूत्र में रूपक की कल्पना क्यों की गई है? इसी का समाधान सूत्रकार अगले सूत्र में करते हैं—

(३७४) आध्यानाय प्रयोजनाभावात्॥१४॥

सूत्रार्थ— प्रयोजनाभावात् = अन्य किसी भी तरह के उद्देश्य का अभाव होने से (यही ज्ञात होता है कि), आध्यानाय = उस परब्रह्म का सम्यक् रूप से ध्यान करने के लिए ही उसका तत्त्व लक्षणों-रूपकों के द्वारा बतलाया गया है।

व्याख्या— तैत्तिरीयोपनिषद् २/१ के अनुसार इस रूपक का अन्य कोई उद्देश्य दृष्टिगोचर नहीं होता, अत: यही जानना चाहिए कि सर्वप्रथम जिस परब्रह्म का सत्य, ज्ञान एवं अनन्त के नाम द्वारा उल्लेख कर उसे (ब्रह्म

को) सभी भूतों के हृदय में विद्यमान कहा गया है तथा उसके मिलने की महत्ता का भी उल्लेख किया गया है। यहाँ इस रूपक में अंगों-अवयवों का उल्लेख करने से किसी अन्य उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती; परन्तु ऐसा लगता है कि ब्रह्म का अच्छी तरह से चिन्तन-मनन हो सके, इसी हेतु ऐसा उल्लेख किया गया है। जो ब्रह्म किसी भी इन्द्रिय से ग्रहणीय नहीं होता तथा जो हृदय रूपी गुहा में बुद्धि से स्थित रहता है, उसे सद्ज्ञान, सद्बुद्धि व गुरुकृपा द्वारा ही जाना जा सकना संभव है। रूपक के अन्तर्गत पुरुष के अवयवों का पक्षी द्वारा तुलनात्मक प्रतिपादन करके अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व आनन्दमय पुरुष का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि सूक्ष्म तत्त्व के विश्लेषण से एक ही परमात्मतत्त्व (अन्तरात्मा) को लक्षित किया गया है॥१४॥

यहाँ आनन्दमय से अन्तरात्मा को ही लक्षित किया गया है, अन्य किसी तत्त्व को नहीं, यह कैसे निश्चय किया जा सकता है? अगले सूत्र में इसी का समाधान करते हैं—

(३७५) आत्मशब्दाच्च॥१५॥

सूत्रार्थ— आत्मशब्दात् = आत्मा शब्द का प्रयोग होने से, च = भी (ऐसा ही सिद्ध हो जाता है)।

व्याख्या— पूर्व सूत्र में सूत्रकार द्वारा कहे हुए कारण के अतिरिक्त यहाँ इस कथन में भी बारम्बार (आनन्दमय को) सभी की अन्तरात्मा बतलाते हुए आनन्दमय को ही विज्ञानमय की अन्तरात्मा बतलाते हैं। उसके पश्चात् अन्तरात्मा अन्य किसी दूसरे को नहीं कहा गया है। इससे भी सिद्ध हो जाता है कि यहाँ समस्त प्राणियों की अन्तरात्मा रूप आनन्दमय ही एकमात्र परब्रह्म है॥१५॥

'आत्मा' शब्द का प्रयोग तो अधिकांशतः 'जीवात्मा' का ही वाची होता है। फिर यह कैसे निश्चित हुआ कि यहाँ 'आत्मा' शब्द 'ब्रह्म' का ही वाची है। इसी पर अगले सूत्र में आचार्य अपना मत प्रस्तुत करते हैं—

(३७६) आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात्॥१६॥

सूत्रार्थ— आत्मगृहीतिः = 'आत्म' शब्द से परब्रह्म का ग्रहण होना, इतरवत् = अन्य श्रुतियों के सदृश, उत्तरात् = उसके बाद के वर्णन से भी (प्रतिपादित होता है)।

व्याख्या— सूत्रकार कहते हैं कि जिस प्रकार ऐतरेयोपनिषद् १/१ में वर्णन आता है- '**आत्मा वा इदमेकमेवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चनमिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति**' अर्थात् 'पूर्व में यह एक आत्मा ही था, उसने इच्छा की, कि मैं लोकों की सर्जना करूँ।' यहाँ पर इस श्रुति में प्रजा की सृष्टि-संरचना के प्रकरण को माध्यम बनाकर 'आत्मा' शब्द का प्रयोग हुआ है। अतः यहाँ आत्मा शब्द को ही परब्रह्म का वाची स्वीकार किया गया है। ऐसे ही तैत्तिरीयोपनिषद् में भी आनन्दमय का उल्लेख करने के तुरन्त बाद ही '**सोऽकामयत बहुस्याम्**' अर्थात् उसने इच्छा की, कि मैं बहुत हो जाऊँ' इत्यादि वचनों से उस आनन्दमय आत्मा से सम्पूर्ण जगत् के उद्भव-विकास का विवेचन किया गया है। अतः बाद में आये हुए इस वर्णन से भी यह प्रमाणित हो जाता है कि यहाँ 'आत्मा' शब्द परब्रह्म का वाची है तथा 'आनन्दमय' नाम भी यहाँ उस एकमात्र परब्रह्म का ही है॥१६॥

उपर्युक्त कथन में पुनः आशङ्का उत्पन्न करके सूत्रकार अगले सूत्र में उसका समाधान प्रस्तुत करते हुए पूर्वोक्त सिद्धान्त को और भी अधिक दृढ़ कर रहे हैं—

(३७७) अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात्॥१७॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि यह कहो कि, अन्वयात् = प्रत्येक वाक्य में 'आत्म' शब्द का अन्वय होने से यह सिद्ध नहीं होता कि आनन्दमय ब्रह्म है, इति = तो इसका उत्तर यह है कि, अवधारणात् = निर्धारित किये जाने से, स्यात् = (आनन्दमय ही ब्रह्म है) यह कथन सिद्ध हो सकता है।

व्याख्या— यदि यह कहें कि तैत्ति. उप. की ब्रह्मानन्दवल्ली में 'आत्मा' शब्द तो समस्त वाक्यों के बाद में प्रयुक्त हुआ है। तो फिर मात्र आत्मा-शब्द के प्रयोग से 'आनन्दमय' को ही परब्रह्म कैसे मान लें? तो इसके समाधान में सूत्रकार कहते हैं कि जिस 'आत्मा' शब्द की सभी वाक्यों में व्याप्ति है, वह ब्रह्मवाची नहीं है। अन्नमय, प्राणमय आदि आत्माओं को ब्रह्म का शरीर और ब्रह्म को उनकी अन्तरात्मा कहने के उद्देश्य से वहाँ सबके साथ 'आत्मा' शब्द का प्रयोग किया गया है। अत: अन्नमय का अन्तरात्मा उससे पृथक् प्राणमय को कहा गया है। पुन: प्राणमय का अन्तरात्मा उससे पृथक् मनोमय को कहा और मनोमय का अन्तरात्मा विज्ञानमय को एवं विज्ञानमय का अन्तरात्मा आनन्दमय को कहा है। तदुपरान्त आनन्दमय का अन्तरात्मा दूसरे अन्य किसी को नहीं कहा है तथा अन्त में यह निश्चित कर दिया कि इसका देह सम्बन्धी आत्मा यह स्वयमेव है, जो कि पूर्व में कहे हुए अन्य सभी पुरुषों का भी आत्मा है। ऐसा बतलाकर उसी से जगत् के उद्‌भव का विवेचन किया है। इस तरह से यहाँ आनन्दमय को पूरी तरह से परब्रह्म निर्धारित कर दिया गया है। इसी से प्रमाणित होता है कि 'आनन्दमय' शब्द परब्रह्म वाची है॥१७॥

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त रूप है) इस कथन द्वारा कहा हुआ ब्रह्म ही यहाँ अन्नरसमय पुरुष है या फिर उससे पृथक् अन्य कोई है? अगले सूत्र में आचार्य इसी जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत करते हैं—

(३७८) कार्याख्यानादपूर्वम्॥१८॥

सूत्रार्थ— कार्याख्यानात् = परब्रह्म का कार्य कहा जाने के कारण यह पुरुष, अपूर्वम् = वह पूर्वोक्त ब्रह्म नहीं हो सकता।

व्याख्या— यहाँ इस प्रकरण के अन्तर्गत जिस अन्नमय पुरुष का उल्लेख किया गया है, वह पूर्वोक्त ब्रह्म नहीं हो सकता; बल्कि अन्न का परिणामभूत यह चैतन्यमय मानव-देह ही यहाँ अन्नरस से युक्त पुरुष के नाम से बताया गया है; क्योंकि इस पुरुष को उस उपर्युक्त परब्रह्म का आकाश आदि के क्रमानुसार कार्य बताया गया है। साथ ही इसकी अन्तरात्मा प्राणमय आदि के क्रमानुसार विज्ञानमय जीवात्मा को कहा है और विज्ञानमय का आत्मा ब्रह्म को कहकर बाद में आनन्द के साथ उस ब्रह्म की समानता व्यक्त की गई है। अत: जिसके 'सत्य' 'प्राण' एवं 'अनन्त' ये धर्म कहे गये हैं और जो 'आत्मा' एवं 'आनन्दमय' नाम से जगत् का कारण कहा गया है, ब्रह्म इस अन्नरस से युक्त पुरुष से पृथक् (परे) समस्त भूतों का अन्तरात्मा है॥१८॥

सूत्र सं. ११ से १८ तक 'आनन्द' नामक प्रकरण का शुभारम्भ कर उसे पूर्ण कर दिया गया। अब अगले सूत्र में सूत्रकार पूर्व में प्रारम्भ किये हुए प्रकरण पर अन्य श्रुतियों के विषय में बतलाते हैं—

(३७९) समान एवं चाभेदात्॥१९॥

सूत्रार्थ— एवम् = इसी प्रकार, च = भी, समान: = (एक शाखा में ब्रह्मविद्या की) समानता समझनी चाहिए, अभेदात् = क्योंकि शाखा के दोनों स्थलों पर उपास्य-ब्रह्म में कोई भेद नहीं है।

व्याख्या— वाजसनेयी शाखा के अन्तर्गत (शतपथ ब्राह्मण १०/६/३/२) में अग्नि रहस्य विद्या (जिसे शाण्डिल्य विद्या भी कहा जाता है) का वर्णन इस प्रकार मिलता है- 'सत्य ही ब्रह्म है, ऐसा जानकर उपासना करनी चाहिए। निश्चय ही यह पुरुष श्रेष्ठ संकल्पों से युक्त है। वह जितने संकल्पों से युक्त होकर इस लोक से प्रस्थान करता है, परलोक गमन करने पर वैसे ही संकल्पों से युक्त होकर प्रकट होता है, वह मनोमय प्राण-देह वाले आकाश-स्वरूप आत्मा की उपासना करे। इसी वाजसनेयी शाखा के अन्तर्गत बृहदारण्यकोपनिषद् ५/६/१ में भी ऋषि ने कहा है कि 'प्रकाश ही जिसका सत्य स्वरूप है, ऐसा वह पुरुष मनोमय है। वह धान और जौ आदि की भाँति सूक्ष्म आकार वाला है। वह उस हृदयाकाश में अवस्थित है, वह सबका स्वामी व अधिष्ठाता है तथा यह जो भी कुछ है, सभी का श्रेष्ठ शासक है।' इस प्रकार से इन दोनों पुस्तकों में विवेचित इन विद्याओं

में भेद है या अभेद? यह आशंका उत्पन्न होने पर आचार्य बतलाते हैं कि जिस प्रकार भिन्न शाखाओं में ब्रह्मविद्या की समानता एवं उसके गुणों का उपसंहार ठीक माना गया है, वैसे ही एक शाखा में व्यक्त हुई विद्याओं में भी समानता माननी चाहिए; क्योंकि वहाँ पर उपास्य-इष्ट में अभेद है। दोनों स्थलों में एक ही ब्रह्म उपास्य बतलाया गया है॥१९॥

उपास्य के सन्दर्भ में किस जगह विद्या की एकता स्वीकार करनी चाहिए और किस जगह नहीं? इसका समाधान करने के लिए अब यहाँ अगले सूत्र में पूर्वपक्ष का मत प्रस्तुत किया जाता है—

(३८०) सम्बन्धादेवमन्यत्रापि॥२०॥

सूत्रार्थ— एवम् = इस प्रकार, सम्बन्धात् = उपास्य के सम्बन्ध से, अन्यत्र = अन्य स्थलों में, अपि = भी (क्या ब्रह्मविद्या की एकता मान लेनी चाहिए?)।

व्याख्या— अन्यत्र कई स्थलों में एक ही उपास्य-उपासक का सम्बन्ध दिखलाते हुए ब्रह्म विषयक विद्या का उल्लेख किया गया है। एक ऐसा ही वर्णन बृहदारण्यकोपनिषद् ५/५/१ में देखने को मिलता है- 'यह सर्वप्रथम बतलाया गया है कि सत्य ही ब्रह्म है, इत्यादि। पुन: इसी उपनिषद् के ५/५/२ में इसी सत्य की सूर्य मण्डल में अवस्थित पुरुष के साथ और आँख में स्थित पुरुष के साथ एकत्व स्थापित किया गया है। तत्पश्चात् दोनों का रहस्यमय नाम क्रमश: 'अहर्' और 'अहम्' कहा है। यहाँ इस कथानक में एक ही उपास्य का सम्बन्ध होने से भी स्थान भेद से पृथक्-पृथक् दो उपासना पद्धतियाँ कही गई हैं। अत: इनमें भेद मानें या अभेद?॥२०॥

उपर्युक्त सूत्र में व्यक्त की गई आशङ्का का समाधान सूत्रकार अगले सूत्र में दे रहे हैं—

(३८१) न वा विशेषात्॥२१॥

सूत्रार्थ— न वा = इन दोनों की एकता यहाँ सिद्ध नहीं होती, विशेषात् = क्योंकि इन दोनों पुरुषों के नाम एवं स्थान में भिन्नता है।

व्याख्या— उपर्युक्त सूत्र में वर्णित इन दोनों उपासनाओं के स्थान और नाम पूर्वपक्ष द्वारा अलग-अलग बतलाये गये हैं। सूर्य मण्डल के मध्य में अवस्थित सत् पुरुष का तो रहस्यात्मक नाम 'अहर्' कहा है तथा आँख में अवस्थित पुरुष का नाम 'अहम्' कहा गया है। इस तरह से नाम एवं स्थान की भिन्नता होने से इन वर्णित उपासनाओं की समानता नहीं स्वीकार की जा सकती है। अत: एक के नाम एवं गुणों का उपसंहार अन्य दूसरे पुरुष में नहीं करना चाहिए। इससे प्रमाणित होता है कि इन ब्रह्म-अध्यात्म विद्याओं में उपास्य एवं उपासना की एकता नहीं हो सकती॥२१॥

उपर्युक्त तथ्य को सूत्रकार अगले सूत्र में श्रुति के प्रमाण द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं—

(३८२) दर्शयति च॥२२॥

सूत्रार्थ— च = और, दर्शयति = श्रुति में (भी) यही देखा जाता है।

व्याख्या— जहाँ पर ऐसे नाम एवं स्थान की भिन्नता हो, वहाँ एक स्थल पर कहे हुए गुण अन्यत्र दूसरे स्थल पर नहीं लिये जाते; यह कथन श्रुति द्वारा इस प्रकार प्रतिपादित की गई है। छान्दोग्योपनिषद् १/७/५ में आधिदैविक साम के प्रसंग में सूर्य में स्थित पुरुष का वर्णन करके पुन: आध्यात्मिक साम के प्रसंग में आँख में स्थित पुरुष का विवेचन किया गया है। वहाँ पर सूर्य में स्थित पुरुष के नाम-रूप आदि का आँख में अवस्थित पुरुष में भी श्रुति ने स्वयमेव विधान करके दोनों की एकता स्थापित की है। इससे यह ज्ञात होता है कि ऐसी जगहों में विद्या की समानता मानकर एक के गुणों का दूसरी जगह उपसंहार करना सामान्य नियम नहीं है। जहाँ ब्रह्मविद्या की एकता मानकर गुणों का उपसंहार करना अभीष्ट होता है, उस सन्दर्भ में श्रुति स्वयं उसका नियम-विधान बना देती है, जैसे कि उक्त प्रसंग में सूर्य में अवस्थित

पुरुष के गुणों का नेत्र में स्थित पुरुष में नियम-विधान किया गया है॥२२॥

सूर्यमण्डलवर्ती एवं नेत्रवर्ती आदि पुरुषों में ब्रह्म के कौन-कौन से गुणों का उपसंहार नहीं किया जा सकता ? इसके निर्णय हेतु सूत्रकार अगले सूत्र में अपने विचार व्यक्त करते हैं—

(३८३) सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः॥२३॥

सूत्रार्थ— च = और, अतः = इस प्रकार विद्या की एकता न होने से, सम्भृतिद्युव्याप्ती = लोकों को धारण करना एवं द्युलोक आदि अखिल ब्रह्माण्ड को व्याप्त करके स्थित होना (ये दोनों ब्रह्म सम्बन्धी गुण), अपि = भी अन्यत्र (नेत्रान्तर्वर्ती आदि पुरुषों में) नहीं लेने चाहिए।

व्याख्या— परब्रह्म परमात्मा जगत् का कारण होने के साथ ही द्युलोकादि समस्त लोकों का पालनकर्त्ता और जड़-चेतनमय सम्पूर्ण विश्व में संव्याप्त है। ये गुण नेत्र में रहने वाले या सूर्य के मध्य में अवस्थित पुरुष के नहीं हो सकते। यहाँ अक्षर रूप ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए दो बातें प्रमुख रूप से कही गई हैं, उनमें प्रथम तो यह है कि वह द्युलोक से ऊपर और पृथिवी के नीचे तक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में संव्याप्त है और द्वितीय बात यह है कि वही समस्त प्राणियों को धारण करने वाला है। इन दोनों गुणों का नेत्रान्तर्वर्ती एवं सूर्यमण्डलवर्ती पुरुषों में उपसंहार नहीं हो सकता है; क्योंकि प्रतीक उपासना के लिए सीमित स्थलों में स्थित कहे हुए पुरुष न तो सर्वव्यापी होते हैं और न ही सभी को धारण करने वाले ही हो सकते हैं। ऐसे ही अन्य स्थलों में भी जहाँ पूर्ण परब्रह्म का उल्लेख नहीं है, उन प्रतीकों में इन गुणों का उपसंहार नहीं हो सकता है, ऐसा ही सम्यक् रूप से मान लेना चाहिए। ऊपर वर्णित विद्याओं की एकता का प्रमाणित न होना और इन गुणों का उन पुरुषों में न हो सकना,यह दोनों बातें उक्त पुरुषों में ब्रह्म के गुणों का उपसंहार न होना प्रमाणित करती हैं॥२३॥

ऊपर वर्णित पुरुषों में ब्रह्म के गुणों में अध्याहार न हो, यह तो उचित है; किन्तु पुरुष विद्याओं में पुरुष के जो गुण कहे गये हैं, उनका अध्याहार तो दूसरी जगह-जहाँ-जहाँ पुरुषों का उल्लेख हो, वहाँ उन सबमें तो होना ही उचित है। इस प्रकार की आशंका का समाधान सूत्रकार अगले सूत्र में प्रस्तुत करते हैं—

(३८४) पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात्॥२४॥

सूत्रार्थ— पुरुषविद्यायाम् = पुरुषविद्या में बतलाये हुए गुणों के, इव = समान, च = भी, इतरेषाम् = अन्य पुरुषों के (गुण) नहीं हो सकते, अनाम्नानात् = क्योंकि श्रुति ने वैसे गुण कहीं नहीं बतलाये हैं।

व्याख्या— पुरुष विद्या के प्रकरण में ब्रह्मरूप पुरुष के जो दिव्य गुण बतलाये गये हैं, उनका भी नेत्रान्तर्वर्ती एवं सूर्यमण्डलवर्ती आदि पुरुषों में और जहाँ-जहाँ स्थूल, सूक्ष्म या कारण शरीर का वर्णन पुरुष के नाम से किया गया है, उन पुरुषों में अध्याहार नहीं किया जा सकता है; क्योंकि श्रुति में कहीं भी उनके लिए वैसे गुणों का उल्लेख नहीं किया गया है। उन प्रकरणों में उन पुरुषों की आत्मा परम पुरुष को लक्ष्य कराने के लिए उन्हें पुरुष नाम से जाना गया है। मुण्डकोपनिषद् में २/१/१ से लेकर २/१/१० तक पुरुष नाम से जिस अक्षर रूप ब्रह्म का उल्लेख किया गया है, वहाँ सर्वप्रथम अक्षर ब्रह्म के द्वारा सभी की उत्पत्ति और पुनः उसी में सभी का लय होना कहा गया है। तदुपरान्त उसी को दिव्य अमूर्त पुरुष के नाम से संबोधित किया गया है और पुनः मु.उ. २/१/३ से २/१/९ तक उसी से समस्त प्राण, इन्द्रिय, पञ्चभूत, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वेद, देवता, मानव, अन्न, समुद्र और पर्वत आदि जगत् की उत्पत्ति कही गयी है। मु.उ. २/१/१० में उसे ही तप, कर्म और परम अमृतमय ब्रह्म के रूप में प्रतिपादित किया गया है। अतः इस प्रकार के श्रेष्ठ दिव्य गुण परब्रह्म के अतिरिक्त किसी सामान्य पुरुष के नहीं हो सकते॥२८॥

अब आशंका यह होती है कि क्या ब्रह्म की उपासनाओं में वेध (बींधना) आदि गुणों का उपसंहार मान्य होना चाहिए या नहीं ? सूत्रकार अगले सूत्र में इसी का समाधान दे रहे हैं—

और सूर्य के दृष्टान्त से भी परब्रह्म की वस्तुगत गुण-दोष से निर्लेपता सिद्ध होती है। इस तरह प्रतिबिम्ब के अलावा दूसरे अन्य दृष्टान्त भी, जो उस ब्रह्म की स्थिति की सत्यता का प्रतिपादन करने वाले हैं, श्रुति में देखने को मिलते हैं। इसलिए भी प्राणियों में और प्रत्येक पदार्थ में उस परब्रह्म की स्थिति प्रतिबिम्बि की तरह आभास मात्र ही नहीं; वास्तविक है। इस प्रकार के अनेकों वर्णन वेद में देखने को मिलते हैं, जिनसे ब्रह्म की निर्लेपता सिद्ध होती है। अत: वह ब्रह्म साकार और निराकार दोनों ही लक्षणों से सम्पन्न है, ऐसा ही मानना समीचीन होगा॥२१॥

अभी तक यह प्रमाणित किया गया कि परब्रह्म परमात्मा साकार-निराकार दोनों लक्षणों वाला है। अब आशंका यह उठती है कि वेद में उस (ब्रह्म) को नेति-नेति अर्थात् ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है- कहा गया है, तो इन निषेधात्मक श्रुतियों का क्या तात्पर्य है ? आचार्य अगले सूत्र से इसी का निर्णय करने हेतु नया प्रकरण प्रारम्भ करते हैं—

(३४१) प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूय: ॥२२॥

सूत्रार्थ— प्रकृतैतावत्त्वम् = उक्त प्रकरण में ब्रह्म के जो लक्षण कहे गये हैं, उनकी इयत्ता का अर्थात् वह इतना ही है, प्रतिषेधति = नेति-नेति श्रुति निषेध करती है, हि = क्योंकि, तत: = उसके पश्चात्, भूय: = पुन: , च = भी, ब्रवीति = कहती है।

व्याख्या— बृहदारण्यकोपनिषद् (२/३/१ से ६ तक) में ब्रह्म के मूर्त्त और अमूर्त्त दो रूप बतला कर प्रकरण की शुरुआत की गई है। वहाँ भौतिक जगत् में तो जल, पृथ्वी और तेज को कार्य सहित मूर्त्त और वायु, आकाश को अमूर्त्त बतलाया है। ऐसे ही आध्यात्मिक जगत् में प्राण और हृदयाकाश को अमूर्त्त एवं उससे पृथक् शरीर और इन्द्रियगोलकादि को मूर्त्त कहा है। जिन्हें मूर्त्त बताया, उन्हें क्षणभंगुर अर्थात् रूपान्तरित होने वाले, किन्तु प्रत्यक्ष प्राप्त होने से 'सत्' कहा और वैसे ही अमूर्त्त को अमृत अर्थात् शाश्वत कहा है। इस प्रकार से उन जड़ तत्त्वों की विवेचना करते समय ही आधिभौतिक जगत् में सूर्यमण्डल को और आध्यात्मिक जगत् में नेत्र को मूर्त्त का सार कहा है। ऐसे ही आधिदैविक जगत् में सूर्यमण्डल के मध्य में स्थित पुरुष को और आध्यात्मिक जगत् में नेत्र में स्थित पुरुष को अमूर्त का सार बतलाया है। इस प्रकार सगुण परब्रह्म के साकार और निराकार-दोनों रूपों का उल्लेख करके पुन: कहा गया है कि 'नेति-नेति' अर्थात् इतना ही नहीं, इतना ही नहीं। इससे अधिक अन्य कोई सदुपदेश नहीं है। इसके उपरान्त यह भी कहा गया है कि- उस परम तत्त्व का नाम सत्य का सत्य है, यह प्राण अर्थात् जीवात्मा सत्य है तथा उसका भी सत्य वह परमपिता परमात्मा ही है।' इस प्रकार उस परब्रह्म के साकार रूप का वर्णन करके यह भाव प्रदर्शित किया गया है कि इनमें जो जड़ पदार्थ है, वह तो उसकी अपरा प्रकृति का विस्तार है और जो चेतन है, वह जीव रूपी उसकी परा प्रकृति है तथा इन दोनों सत्यों का आश्रयभूत वह परब्रह्म परमात्मा इनसे भी परे अर्थात् सर्वोत्कृष्ट है। अत: यहाँ 'नेति-नेति' कहकर सत्य के सत्य परब्रह्म का होना सिद्ध किया है। अत: परब्रह्म परमात्मा एक मात्र निर्गुण निराकार ही है, सगुण-साकार नहीं, ऐसा नहीं मानना चाहिए॥२२॥

उस परमात्मा के साकार और निराकार दोनों ही स्वरूप यथार्थत: प्राकृत मन-बुद्धि और इन्द्रियों से परे हैं। अगले सूत्र में इसी भाव को स्पष्ट करने के लिए आचार्य अपना मत प्रस्तुत करते हैं—

(३४२) तदव्यक्तमाह हि॥२३॥

सूत्रार्थ— हि = क्योंकि, तत् = उस (ब्रह्म) के सगुण रूप को, अव्यक्ततम् = इन्द्रियों द्वारा ग्रहण न किये जाने वाला, आह = (श्रुति) कहती है।

व्याख्या— श्रुतियों में उस परब्रह्म को इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य बतलाया गया है। निराकार रूप से ही वह अव्यक्त है, मात्र इतना ही नहीं; वरन् ऐसे ही उसका साकार रूप भी इन प्राकृत मन और इन्द्रिय आदि का विषय नहीं

है; क्योंकि श्रुति स्मृतियों में उसे भी अव्यक्त कहा गया है। मुण्डकोपनिषद् (३/१/३) में परब्रह्म साकार-स्वरूप का उल्लेख इस प्रकार मिलता है-'जब यह जीवात्मा सबके शासक,ब्रह्मा के भी आदि कारण, सम्पूर्ण जगत् के सृजेता, दिव्य- प्रकाशस्वरूप परम पुरुष परमात्मा का साक्षात् कर लेता है, उस समय पाप-पुण्य दोनों को सम्यक् रूप से धो-बहाकर मलरहित हुआ ज्ञानी सर्वश्रेष्ठ समता को पा लेता है।' तदुपरान्त इसी उपनिषद् (३/१/४ से ७ तक) में सत्य, तप और ज्ञान आदि को उसकी प्राप्ति का माध्यम बतलाया गया है। पुन: अनेकों विशेषणों के द्वारा उस परब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करके अगले मन्त्र (३/१/८) में उसके निराकार का वर्णन इस प्रकार मिलता है- 'वह परब्रह्म न तो नेत्रों से, न वाणी से, न अन्य इन्द्रिय अथवा मन से, न तप से और न ही कर्मों के द्वारा देखा जा सकता है।' ऐसा ही उल्लेख अनेकानेक श्रुति-स्मृतियों में भी देखने को मिलता है। अत: परमपुरुष परमात्मा का साकार-निराकार (मूर्त्त-अमूर्त्त) दोनों रूप कहने का उद्देश्य यही है कि जगत् रूप रचना द्वारा क्रमश: उसके वास्तविक स्वरूप का बोध विधिपूर्वक सम्पन्न करवाया जा सके॥२३॥

उक्त सूत्र में प्रतिपादित कथन से यह नहीं मान लेना चाहिए कि परब्रह्म परमात्मा का किसी भी अवस्था में प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता। अगले सूत्र में आचार्य श्रुति-स्मृति दोनों के दृष्टान्तों द्वारा परमेश्वर के साक्षात्कार का वर्णन करते हैं—

(३४३) अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्॥२४॥

सूत्रार्थ— अपि च = इस प्रकार अव्यक्त होने पर भी, संराधने = सम्यक् रूप से आराधना करने पर (साधक अपने इष्ट परब्रह्म का प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त करते हैं,) प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् = यह बात वेद और स्मृति (प्रत्यक्ष और अनुमान) दोनों के ही कथन द्वारा भी सिद्ध होती है।

व्याख्या— वेदों एवं स्मृतियों में जहाँ साकार और निराकार रूप परब्रह्म को इन्द्रिय आदि के द्वारा देखने में न आने वाला कहा गया है वहाँ यह भी कहा गया है कि वह परब्रह्म मंत्र-जप, स्मरण, ध्यान आदि आराधना के द्वारा प्रत्यक्ष-साक्षात् होने वाला भी है। परब्रह्म परमेश्वर का यह महान् अनुग्रह है, जब जीवात्मा उसके स्वरूप का साक्षात् दर्शन करता है। श्रुति-स्मृतियों ने इस तथ्य को विस्तार से प्रतिपादित किया है। परब्रह्म के दोनों स्वरूपों का उल्लेख श्रुति के अन्तर्गत कठोपनिषद् (१/२/२३) में कहा गया है- 'जिस पर ब्रह्म का अनुग्रह है, वह इसे प्राप्त कर लेता है, ब्रह्म अपने स्वरूप को उसके लिए प्रकाशित कर देता है।' मुण्डकोपनिषद्- (३/१/८) में कहा है- 'आत्मा की शुद्ध, शान्त स्थिति से विशुद्ध अन्त:करण वाला व्यक्ति ब्रह्म का ध्यान करता हुआ, उसे साक्षात् कर लेता है।' श्वेताश्वतर (२/५) में वर्णन मिलता है- 'योगी आत्मतत्त्व द्वारा ब्रह्मतत्त्व को ऐसे देख लेता है, जैसे एक दीपक से दूसरा दीपक प्रज्वलित कर लिया जाता है। इसी प्रकार स्मृतियों के अन्तर्गत मनुस्मृति (६/६५) में कहा गया है- 'योग समाधि द्वारा ब्रह्म की सूक्ष्मता का दर्शन करे।' वेद और स्मृतियों के इन वचनों में उस साकार-निराकार रूप ब्रह्म को आराधना के द्वारा प्रत्यक्ष होने वाला कहा गया है। अत: यह सिद्ध होता है कि उसके प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। गीता के अध्याय ११ के ५४ वें श्लोक में भगवान् ने कहा है कि 'हे अर्जुन! अनन्य भक्ति के द्वारा ही मुझे तत्त्वत: जाना जा सकता है। मेरा दर्शन हो सकता है और मुझमें ही प्रवेश किया जा सकता है।' इससे भी यही सिद्ध होता है कि वह ब्रह्म निश्चित ही साकार-निराकार दोनों ही स्वरूपों से युक्त है॥२४॥

उक्त सूत्र के प्रतिपादनार्थ कहा गया है कि उस परब्रह्म का स्वरूप आराधना द्वारा जानने में आता है, अन्यथा नहीं। इस कथन से तो यह प्रमाणित होता है कि यथार्थत: परब्रह्म निर्विशेष ही है। वह तो एकमात्र भक्त के लिए आराधना काल में साकार रूप में प्रकट होता है। अगले सूत्र में आचार्य इसी आशंका का समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं—

के कारण (उस ईश्वर को), तथात्वम् = निरन्तर उसी तरह का, न = नहीं स्वीकारना चाहिए।

व्याख्या— उपर्युक्त सूत्र में परब्रह्म परमात्मा को समस्त भूत-प्राणियों में अवस्थित बतलाते हुए जल में दृष्टिगोचर होने वाले चन्द्रमा का उदाहरण दिया गया है; किन्तु वह उदाहरण पूरी तरह से परब्रह्म में नहीं घटता है; क्योंकि चन्द्रमा वस्तुतः जल नहीं है, जल में तो केवल उसका प्रतिबिम्ब ही परिलक्षित होता है। चन्द्रमा की तरह सभी प्राणियों के अन्तःकरण में परब्रह्म की छाया नहीं रहती, बल्कि स्वयं ब्रह्म ही अनेक रूपों में अवस्थित रहता है। गीता के १८/६१ में इसका उल्लेख इस प्रकार किया गया है- परमात्मा तो स्वयं ही समस्त भूतों के हृदय में सचमुच अवस्थित रहता है और उन-उन प्राणियों के कर्मानुसार उनको अपनी शक्ति के माध्यम से संसार-चक्र में भ्रमण कराता रहता है। अतः चन्द्रमा की प्रतिच्छाया के सदृश परमात्मा की स्थिति नहीं है। यहाँ इस दृष्टान्त से यही मानना चाहिए कि चन्द्रमा अपनी प्रतिच्छाया द्वारा एक से अनेक रूपों में दिखलाई देता है, ब्रह्म तो समस्त भूतों के हृदय में एक रूप से स्थित होकर विभिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होता है ॥१९॥

यदि चन्द्रमा की प्रतिच्छाया की भाँति ब्रह्म की स्थिति नहीं है, तो फिर प्रतिबिम्ब का उदाहरण क्यों दिया गया? इस जिज्ञासा का समाधान अगले सूत्र में किया जा रहा है—

(३३९) वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ॥२०॥

सूत्रार्थ— अन्तर्भावात् = अन्तःकरण में स्थित होने के कारण, वृद्धिह्रासभाक्त्वम् = शरीर के माप के अनुसार ब्रह्म के बढ़ने-घटने वाला होने की सम्भावना होती है, अतः (उसके निषेध में), उभयसामञ्जस्यात् = ब्रह्म और चन्द्र प्रतिबिम्ब-इन दोनों की समानता है, एवम् = (अतः) इस प्रकार की उपमा दी गई है।

व्याख्या— उपमा और उपमेय वस्तु के किसी एक अंश की समानता को रखकर दी जाती है। यदि इन दोनों की पूरी तरह से एकता हो जाये, तो वह उपमा ही नहीं कही जायेगी; वरन् वास्तविक वर्णन हो जायेगा; अतः यहाँ जैसे चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल में विद्यमान रहता हुआ भी जल के बढ़ने-घटने आदि के विकारों से सम्बद्ध नहीं होता, वैसे ही परमात्मा समस्त भूतों में निवास करता हुआ भी विकार-रहित रहता है। उन (शरीर) के घटने-बढ़ने आदि किसी भी विकार से वह संलिप्त नहीं होता। यदि यहाँ यह आशंका करें कि शरीर में स्थित रहने से वह (ब्रह्म) उस (शरीर) के अनुपात से घटता-बढ़ता भी होगा, तो ब्रह्म शरीर के किसी भी विकार में लिप्त नहीं होता अर्थात् शरीर के घटने-बढ़ने का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह (ब्रह्म) समस्त प्राणियों के हृदय में समान भाव से स्थित रहता है ॥२०॥

अगले सूत्र में आचार्य प्रकारान्तर से पुनः ब्रह्म के (निराकार-साकार रूप) भ्रम का निवारण करते हैं—

(३४०) दर्शनाच्च ॥२१॥

सूत्रार्थ— दर्शनात् = श्रुति में दूसरे अन्य दृष्टान्त देखे जाते हैं, च = इसलिए भी (यह मान्यता उचित है कि ब्रह्म की स्थिति प्रतिबिम्ब की भाँति अवास्तविक नहीं है)।

व्याख्या— सूर्य एवं चन्द्रमा के प्रतिबिम्बों के जल में होने से भी जल के गुण उन्हें व्याप्त नहीं कर पाते। इसी प्रकार आकाश का घट या सकोरे में रहकर भी उनके गुणों से सम्बन्ध नहीं रहता, उसी प्रकार परब्रह्म का भी विभिन्न शरीरों में रहते हुए उनके गुणों से सम्बन्ध नहीं रहता। इसलिए उसे विकार रहित कहा गया है। कठोपनिषद् (२/२/९) में इसके सम्बन्ध में इस प्रकार उल्लेख मिलता है कि जिस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट हुआ एक ही अग्नि विभिन्न रूपों में हर एक के रूपवाला-सा प्रतीत हो रहा है और उनके बाहर भी है। क.उ. २/२/११-१२ में भी ब्रह्म की निर्लिप्तता सिद्ध करते हुए कहा गया है- 'अग्नि के ही समान वहाँ वायु

(३४४) प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्॥२५॥

सूत्रार्थ— प्रकाशादिवत् = प्रकाशादि गुणों के समान, च = ही, अवैशेष्यम् = (ब्रह्म में भी) विशिष्टता न होने से, प्रकाश: = प्रकाश, च = भी, कर्मणि = कर्म में, अभ्यासात् = अभ्यास करने से ही सिद्ध होता है।

व्याख्या— जिस प्रकार अग्नि एवं विद्युत् आदि तत्त्व अपने प्रकट रूप में प्रकाश और उष्णता प्रधान गुणों से सम्पन्न रहते हैं और अप्रकट रूप अर्थात् प्रकट न हो-छिपा हो, उस अवधि में भी वे अपने गुणों से युक्त रहते हैं। व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही अवस्थाओं में उन स्वाभाविक गुणों से सम्पन्न होने में किसी भी तरह का कोई अन्तर नहीं आता। उसी प्रकार से वह परब्रह्म उपासना द्वारा साकार-प्रत्यक्ष होने के समय जिस प्रकार समस्त कल्याणकारी विशेष परिष्कृत दिव्य गुणों से युक्त हो जाता है, वैसे ही उसे अप्रकट रूप में भी समझना चाहिए। अव्यक्त ब्रह्म के गुणों में भी किसी भी तरह की भिन्नता नहीं होती अर्थात् जो स्वभाव निर्गुण ब्रह्म का है, वही प्रकृति साकार रूप ब्रह्म की होती है। उसमें कोई भेद उपस्थित नहीं होता। जैसे- अग्नि आदि प्रकाश का प्रकट होना, उनके साधन और कर्म पर निर्भर है, उसी प्रकार ब्रह्म से साक्षात्कार करने के लिए भी उनकी आराधना आदि कर्मों का अभ्यास करना अत्यावश्यक है, क्योंकि अभ्यास द्वारा ही कर्म की सिद्धि संभव है और कर्म-सिद्धि हो जाने पर ही ब्रह्म के प्रत्यक्ष रूप में दर्शन किये जा सकते हैं॥२५॥

आचार्य अगले सूत्र में उभयलिङ्ग वाले प्रकरण को समाप्त करते हुए अन्त में ब्रह्म का अनन्त होना बतलाते हैं—

(३४५) अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम्॥२६॥

सूत्रार्थ— अत: = ऊपर कहे हुए इन कारणों से यही सिद्ध हुआ कि, अनन्तेन = (वह ब्रह्म) अनन्त दिव्य कल्याणकारी गुणों से सम्पन्न है, हि = क्योंकि, तथा = वैसे ही, लिङ्गम् = लक्षण प्राप्त होता है।

व्याख्या— उपर्युक्त सूत्रों में दिये गये दृष्टान्तों-प्रतिपादनों से ब्रह्म का अनन्त होना सिद्ध होता है; क्योंकि ब्रह्म में अनन्त रूप होने के लक्षण उपलब्ध हैं। पूर्वोक्त कारणों से स्पष्ट हो जाता है कि वह परब्रह्म परमात्मा सत्यसंकल्पत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्ता, पतितपावनता, सौहार्द, आनन्द, विज्ञान, असङ्गता एवं निर्विकारिता आदि असंख्य कल्याणकारी गुण-समूहों से युक्त और निर्विशेष अर्थात् सभी गुणों से विहीन भी है; क्योंकि वेद और स्मृतियों में ऐसे ही लक्षण प्राप्त होते हैं। श्रुतियों एवं स्मृतियों ने उन विराट् परमपुरुष परमेश्वर के विभिन्न नाम व स्वरूप का जगह-जगह पर उल्लेख करके उनके अनन्त गुण-समुदाय की विवेचना की है॥२६॥

अब अगले सूत्र में आचार्य परम पुरुष एवं उसकी प्रकृति भिन्न है या अभिन्न ? इसी की विवेचना के लिए नया प्रकरण शुरू करते हैं। सर्वप्रथम शक्ति और शक्तिमान् में किस प्रकार अभेद है ? यहाँ स्पष्ट करते हैं—

(३४६) उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्॥२७॥

सूत्रार्थ— उभयव्यपदेशात् = दोनों प्रकार (साकार- निराकार) का कथन उल्लिखित होने से, अहिकुण्डलवत् = सर्प के कुण्डलाकार होने के सदृश, तु = ही (उसका भाव जानना चाहिए)।

व्याख्या— जैसे सर्प कभी अपने शरीर को संकुचित करके कुण्डलाकारवत् बैठता है और कभी अपनी सहज-स्वाभाविक दशा में रहता है; किन्तु दोनों ही स्थितियों में अलग-अलग तरह से दृष्टिगोचर होने पर भी वह सर्प एक ही है। यहाँ सहज स्थिति में रहना उसका कारण भाव है, उस क्षण उसकी कुण्डलादिभाव में प्रकट होने की शक्ति अप्रकट है; फिर भी वह उसमें स्थित रहते हुए भी उससे पृथक् रहता है। ऐसे ही कुण्डलादि रूप में स्थित होना उसका कार्यभाव है, यही उसकी पूर्वोक्त अप्रकट शक्ति का प्रकट होना है। वैसे ही वह ब्रह्म जब कारण भाव में रहता है, उस क्षण उसकी अपरा एवं परा प्रकृतिरूप दोनों शक्तियाँ सृष्टि से पूर्व उसमें अभिन्न रूप से समाहित रहती हुई भी अप्रकट रहती हैं; किन्तु जब वह कार्य रूप में स्थित होता है, तब

उसकी उक्त दोनों शक्तियाँ पृथक्-पृथक् नाम रूपों में प्रकट हो जाती हैं। अत: वेद में जो ब्रह्म को निराकार कहा गया है, वह उसकी कारण अवस्था को लेकर है और जो उसे अपनी शक्तियों से युक्त एवं साकार कहा है, वह उसकी कार्य-अवस्था को लेकर है। इस प्रकार श्रुति-स्मृति दोनों में उसके कारण और कार्य दोनों स्वरूपों का विवेचन मिलता है। अत: यह स्पष्ट होता है कि परमात्मा में उसकी शक्ति सदैव अभिन्न रूप से स्थित रहती है। दोनों ही अवस्थाओं में ब्रह्म का अभिन्नत्व उपस्थित रहता है ॥२७॥

अगले सूत्र में आचार्य प्रकारान्तर से पुनः उक्त तथ्य को प्रतिपादित करते हैं—

(३४७) प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥२८॥

सूत्रार्थ— वा = अथवा, प्रकाशाश्रयवत् = प्रकाश और उसके आश्रय के सदृश उनका अभिन्नत्व है, क्योंकि; तेजस्त्वात् = तेज की दृष्टि से दोनों को भेद रहित अर्थात् एक ही माना है।

व्याख्या— जिस प्रकार प्रकाश और उसके आश्रय रूप अग्नि, सूर्य आदि दोनों ही तेज तत्त्वात्मक होने के कारण अभिन्न हैं; फिर भी वे (प्रकाश और सूर्य-अग्नि) दोनों पृथक् माने जाते हैं। प्रकाश और प्रकाशक (सूर्यादि) स्वयं प्रकाशरूप हैं, किन्तु जब वह प्रकाश किसी अन्य वस्तु पर पड़ता है, तो वह प्रकाशक कहलाता है। 'प्रकाश' या 'प्रकाशक' पदों से सम्बोधित किया जाने वाला तत्त्व एकमात्र तेज ही है; फिर भी वह प्रकाश्य वस्तु से अलग है। वह वस्तु प्रकाशित होने पर स्वयमेव प्रकाश स्वरूप नहीं होती। इसी प्रकार ब्रह्म आनन्दस्वरूप है, उस आनन्द से मुक्तावस्था में प्राणी आनन्दित होता है, तब आनन्द रूप परब्रह्म आनन्द प्रदाता कहलाता है। इतने मात्र से उसके आनन्दमय रूप में कोई अन्तर नहीं आता; इसी आधार पर तेज (प्रकाश और सूर्य) के दृष्टान्त से ब्रह्म और उसकी प्रकृति का अभेदत्व सिद्ध होता है ॥२८॥

अगले सूत्र में आचार्य पुनः उक्त तथ्य को स्पष्ट करते हुए पूर्वोक्त कथन को प्रस्तुत कर रहे हैं—

(३४८) पूर्ववद्वा ॥२९॥

सूत्रार्थ— वा = अथवा; पूर्ववत् = जैसे पूर्व के सूत्र में स्पष्ट किया जा चुका है, वैसे ही दोनों का अभेदत्व समझना चाहिए।

व्याख्या— अथवा पूर्व में वर्णित सूत्र (२/३/४३) में जिस प्रकार परब्रह्म परमात्मा का अपने अंशभूत प्राणि-समुदाय से अभेदत्व सिद्ध किया जा चुका है, उसी प्रकार से यहाँ शक्ति एवं शक्तिमान् अर्थात् प्रकृति और ब्रह्म का अभेदत्व समझना चाहिए। पूर्व के सूत्रों में दोनों (ब्रह्म एवं प्रकृति) की अभिन्नता के दृष्टान्त-प्रमाण भी प्रतिपादित किये गये हैं। अत: यहाँ पर दोनों का अभेदत्व ही सिद्ध होता है ॥२९॥

अब अगले सूत्र में आचार्य शक्ति एवं शक्तिमान् के अभेदत्व का प्रमुख कारण बतलाते हैं—

(३४९) प्रतिषेधाच्च ॥३०॥

सूत्रार्थ— प्रतिषेधात् = दूसरे किसी अन्य का निषेध होने से, च = भी (अभेदत्व ही सिद्ध होता है)।

व्याख्या— ऐतरेयोपनिषद् (१/१/१) में वर्णन मिलता है कि 'इस जगत् का उद्भव होने से पूर्व एकमात्र परब्रह्म परमात्मा ही था, उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी चेष्टा करने वाला उपस्थित नहीं था।' यहाँ इस कथन में किसी अन्य का निषेध होने से भी यही मान्यता प्रतिपादित होती है कि जगत् की उत्पत्ति के पूर्व प्रलयकाल में उस परमात्मसत्ता की दोनों प्रकृतियाँ उसी में समाहित होकर स्थित रहती हैं। अत: उनमें किसी भी तरह के भेद की प्रतीति नहीं होती। इसी कारण उनका अभेदत्व बतलाया गया है ॥३०॥

अभी तक परब्रह्म परमात्मा का अपनी दोनों प्रकृतियों से अभेदत्व कैसा है ? स्पष्ट किया गया है। अब अगले सूत्र से आचार्य उन दोनों (प्रकृतियों) से उसकी विलक्षणता एवं श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं—

(३५०) परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥३१॥

सूत्रार्थ— अतः= इस जड़-चेतनमय प्रकृतियों के समुदाय से, परम्= (वह परब्रह्म) अति श्रेष्ठ है, सेतून्मानसम्बन्ध = क्योंकि श्रुति में सेतु, उन्मान, सम्बन्ध और, भेदव्यपदेशेभ्यः = भेद का वर्णन करने से यही सिद्ध होता है।

व्याख्या— इस जड़-चेतनमय सम्पूर्ण जगत् की कारणभूता जो भगवान् की प्रकृतियाँ हैं, उन्हें गीता के ७/४,५ में परा-अपरा नाम से कहा गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् (१/१०) में इन प्रकृतियों का 'क्षर' और 'अक्षर' के नाम से उल्लेख मिलता है। गीता में कहीं (१३/१ में) क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के नाम से, तो कहीं (१३/९ में) प्रकृति और पुरुष के नाम से जिन प्रकृतियों का वर्णन किया गया है, गीता के (१५/७) में उन दोनों प्रकृतियों से तथा उन्हीं के विस्तार रूप इस दृश्य जगत् से वह परमात्मा सर्वथा विलक्षण एवं सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि वेद में उसकी सर्वोत्कृष्टता को सिद्ध करने वाले चार हेतु मिलते हैं; जो निम्नवत् हैं- १. सेतु २. उन्मान ३. सम्बन्ध और ४. भेद का वर्णन।

सेतु का वर्णन छा.उ. ८/४/१ में इस प्रकार मिलता है- '**अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः**' अर्थात् यह जो आत्मा (परमात्मा) है, यही सबको धारण करने वाला सेतु है। बृह. उ. ४/४/२२ भी कहता है कि 'सेतु ही सबको धारण करने वाला है। अब द्वितीय हेतु है उन्मान। उन्मान का अर्थ है- सबसे बड़ा माप अर्थात् महत् परिणाम। छा.उ. ३/१२/६ में परब्रह्म के सर्वाधिक महान् होने का वर्णन इस प्रकार मिलता है- ' उतनी उसकी महिमा है, वह परम पुरुष इससे भी श्रेष्ठ है। समस्त प्राणी इस विराट् पुरुष का एकपाद हैं और शेष तीन अमृतमय पाद अप्राकृत परमधाम में हैं। तृतीय हेतु है सम्बन्ध का प्रतिपादन। ब्रह्म को उक्त प्रकृतियों का स्वामी, शासक और संचालक कहकर श्रुति ने इनमें शास्य-शासक भाव एवं स्वामि-सेवक भाव रूप सम्बन्ध का प्रतिपादन किया है। श्वेता.उ.६/७ में इसका उल्लेख इस प्रकार है- 'ईश्वरों के भी परम ईश्वर, देवों के भी परम देव, पतियों के भी परमपति, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के रचयिता एवं स्तुत्य उस ज्ञान-स्वरूप परब्रह्म को हम जानते हैं।' चतुर्थ हेतु है भेद का प्रतिपादन। उस परमात्मा को इन दोनों प्रकृतियों का अन्तर्यामी एवं भरण-पोषण कर्त्ता कहकर और अन्य तरह से भी वेद ने इनसे उसकी पृथक्ता का निरूपण किया।

उक्त सभी कारणों-दृष्टान्तों से यह प्रमाणित होता है कि वह सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वाधार परमात्मा अपनी दोनों प्रकृतियों से अति विलक्षण एवं सर्वोत्कृष्ट है; क्योंकि श्रुति में वर्णित उस परब्रह्म का स्वरूप दिव्य, अलौकिक और उपाधि से परे है। उसके साक्षात्कार का फल परम शान्ति की उपलब्धि, सभी तरह के बन्धनों से परे और अमृतत्त्व की प्राप्ति ही कहा गया है॥३१॥

अभी तक यह स्पष्ट किया गया कि उस परमात्मा का अपनी अपरा एवं परा नामक प्रकृति के साथ भेद और अभेद दोनों ही हैं। अब जिज्ञासा यह होती है कि इन दोनों में से श्रेष्ठ कौन है- अभेदपक्ष या भेद पक्ष? अगले सूत्र में इसी का समाधान प्रस्तुत है—

(३५१) सामान्यात्तु ॥३२॥

सूत्रार्थ— सामान्यात् = श्रुति में भेद और अभेद का वर्णन-दोनों ही समान भाव से है, तु = इससे तो यही निश्चय होता है कि भेद और अभेद दोनों पक्षों की मान्यता सिद्ध होती है।

व्याख्या— श्रुतियों ने परब्रह्म परमात्मा को जीवात्मा (प्रकृति) से भेद और अभेद दोनों ही पक्षों में मान्यता प्रदान की है। श्रुति में भेद और अभेद दोनों का वर्णन समान भाव से किया गया है। परमात्मा को सबका प्रेरक, ईश्वर, अधिपति, शासक और अन्तर्यामी माना गया है। बृह.उ. ४/४/२२ में इसका प्रमाण इस प्रकार है- '**एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिः**' अर्थात् यह परमात्मा ही सबका ईश्वर और समस्त भूत-प्राणियों का अधिपति है। मा.उ. ६ में भी इसे '**एष सर्वेश्वरः**' अर्थात् सबका ईश्वर कहा गया है। बृह.उप. ३/७/३ में भी इसके अन्तर्यामी

होने का उल्लेख मिलता है- **'एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः'** अर्थात् वह ब्रह्म समस्त प्राणियों का अन्तर्यामी है। इस प्रकार से भेद प्रतिपादक ऐसे अनेकों श्रुतिवचन देखने को मिलते हैं। इसी प्रकार अभेद की प्रतिपादक श्रुतियाँ भी देखने को मिलती हैं। यथा 'तत्त्वमसि' अर्थात् वह ब्रह्म तू है, (छा.उप. ६/८ वें से १६ वें खण्ड तक) में वर्णन मिलता है। बृह.उ. २/५/१९ में भी ऐसा ही संकेत मिलता है- **'अयमात्मा ब्रह्म'** अर्थात् 'यह आत्मा ब्रह्म है।' इस प्रकार से भेद और अभेद-दोनों की प्रामाणिकता में कुछ भी अन्तर नहीं है। अतः किसी एक पक्ष को विशेष और किसी एक को अविशेष कहना कभी भी संभव नहीं है। परमात्मा के दोनों पक्षों का समान भाव से श्रुतियों में उल्लेख किया गया है, इसलिए यहाँ दोनों पक्षों की मान्यता सिद्ध होती है॥३२॥

अब जिज्ञासा यह उठती है कि कहीं भेद -भाव से और कहीं अभेद भाव से उपासना के लिए आदेश देने का क्या अभिप्राय है? अगले सूत्र में आचार्य इसी का समाधान प्रस्तुत करते हैं—

(३५२) बुद्ध्यर्थः पादवत्॥३३॥

सूत्रार्थ— पादवत् = अंग विहीन परब्रह्म के चार पाद बतलाये जाने के समान ही, बुद्ध्यर्थः = चिन्तन-मनन आदि उपासना के लिए वैसा उपदेश किया गया है।

व्याख्या— माण्डूक्य उपनिषद्-२ में वर्णन मिलता है कि जिस प्रकार से अंगरहित, रसस्वरूप परब्रह्म परमात्मा के तत्त्वज्ञान का विवेचन करने के लिए चार पादों की कल्पना करके श्रुति में उसके स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है, उसी प्रकार से भेद या अभेद भाव से उपासना का उपदेश उस परब्रह्म के तत्त्व का साक्षात्कार करने के लिए ही किया गया है; क्योंकि साधकों की प्रकृति अलग-अलग होती है। कोई साधक भेद उपासना को, तो कोई अभेद उपासना को स्वीकार करते हैं। किसी भी भाव से उपासना की जाये, साधक अपने एक निश्चित लक्ष्य को प्राप्त करता है। दोनों तरह की उपासना पद्धति से प्राप्त होने वाला तत्त्वज्ञान और भगवत् प्राप्ति रूप फल एक ही है। अतः परब्रह्म के तत्त्वज्ञान का साक्षात् कराने के लिए साधक की प्रकृति, पात्रता और विश्वास के अनुसार वेद में भेद या अभेद नामक उपासना का उल्लेख प्रायः ठीक ही है। उन्हें एकमात्र ब्रह्म की ही उपासना माननी चाहिए॥३३॥

अब आशंका यह होती है कि यदि ब्रह्म और उसकी दोनों प्रकृतियों में भेद नहीं है, तो ब्रह्म की परा प्रकृति रूप जो प्राणि-समुदाय हैं, उनमें भी आपस में भेद सिद्ध नहीं होगा। ऐसा सिद्ध होने से वेद में जो नानात्व का प्रतिपादन है, उसकी सङ्गति किस प्रकार होगी? आचार्य अगले सूत्र में इसी का समाधान करते हैं—

(३५३) स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत्॥३४॥

सूत्रार्थ— प्रकाशादिवत् = प्रकाश आदि के सदृश, स्थानविशेषात् = शरीर रूप स्थान की विशेषता होने से भिन्न होना असंगत नहीं है।

व्याख्या— जिस तरह से समस्त प्रकाशमान पदार्थ प्रकाश-जाति की दृष्टि से समान तत्त्व वाले होने से एक ही हैं, किन्तु उनमें ग्रह, नक्षत्र, तारे, दीपक, अग्नि, सूर्य और चन्द्र आदि में स्थान और शक्ति-रूपादि का भेद होने से उक्त इन सभी में परस्पर भिन्नता दिखलाई देती है, उसी प्रकार भगवान् की परा-प्रकृति अर्थात् जड़ चेतन रूपात्मक सभी प्राणि-समुदाय अपने फल प्राप्ति रूप से विभिन्न प्रकार के दिखलाई देते हैं। फिर भी प्राणियों के अनादि कर्म-संस्कारों का जो समूह है, उसके अनुसार फल रूप में मिले हुए शरीर, बुद्धि और शक्ति आदि के तादात्म्य से उनमें आपस में भेद होना असङ्गत नहीं है। वे ब्रह्म की दोनों प्रकृतियों के सम्बन्ध से एक ही प्रकार के हैं॥३४॥

अगले सूत्र में आचार्य पुनः उक्त तथ्य को दृढ़ करने के लिए कहते हैं कि—

(३५४) उपपत्तेश्च॥३५॥

सूत्रार्थ— उपपत्तेः = श्रुति की विवेचना से, च = भी (यही बात प्रमाणित होती है)।

व्याख्या— वेद (श्रुति) में इस संसार के उद्‌भव से पूर्व एकमात्र अविनाशी परब्रह्म की ही सत्ता विवेचित की गई है। तदुपरान्त उसी ब्रह्म के द्वारा समस्त प्राणियों की उत्पत्ति का विवेचन करके उसे सबका अभिन्न-निमित्त-उपादान कारण प्रमाणित किया गया है। तत्पश्चात् 'तत्त्वमसि' आदि वचनों के द्वारा उस ब्रह्म को स्वयं से अभिन्न मानते हुए उसकी उपासना का उपदेश प्रदान किया गया है। पुनः उसी को भोक्ता, भोग्य आदि से सम्पन्न इस विचित्र जड़-चेतनमय जगत् का स्रष्टा, संचालक एवं जीवों के कर्मफल भोग और बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था बनाने वाला बताया गया है। प्राणि-समुदाय एवं उनके कर्म-संस्कारों को अनादि कहकर उनके उद्‌भव का निषेध किया गया है। उपर्युक्त सभी तथ्यों पर विचार करने से यह प्रमाणित होता है कि प्राणि-समुदाय चैतन्यता के कारण तो आपस में एक या अभिन्न हैं; किन्तु विभिन्न कर्म-संस्कारजनित सीमित व्यक्तित्व के कारण पृथक्-पृथक् हैं। प्रलय की स्थिति में समस्त प्राणी ब्रह्म में लय हो जाते हैं, सृष्टि काल में पुनः उसी ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं और ब्रह्म की ही परा प्रकृति के अन्तर्गत होने से उसी के अंश होते हैं। इसलिए भी वे ब्रह्म से अभिन्न कहे जाते हैं। ब्रह्म उनका नियामक होता है और सभी प्राणी उसके नियम्य होते हैं। इसलिए वे उस ब्रह्म से भी पृथक् हैं और परस्पर भी। यही मानना उचित होगा॥३५॥

अगले सूत्र में आचार्य पुनः उक्त तथ्य को दृढ़ कर रहे हैं—

(३५५) तथाऽन्यप्रतिषेधात्॥३६॥

सूत्रार्थ— तथा = और वैसे ही, अन्यप्रतिषेधात् = अन्य का निषेध होने से भी यही मान्यता उचित है।

व्याख्या— परब्रह्म से पृथक् अन्य किसी की सत्ता को श्रुति (वेद) ने नहीं स्वीकार किया है। यह बात ऊपर के सूत्रों में अनेक बार प्रतिपादित की जा चुकी है। कठोपनिषद् २/१/११ में भी परब्रह्म परमात्मा से भिन्न किसी दूसरी वस्तु की सत्ता का प्रतिषेध किया गया है। इससे भी यही प्रमाणित होता है कि परा और अपरा दोनों शक्तियों से युक्त वह परमात्मा ही विभिन्न रूपों में प्रकट होकर परिलक्षित हो रहा है। परब्रह्म की दोनों (परा, अपरा) प्रकृतियों में नानात्व होते हुए भी उस परब्रह्म में किसी भी तरह का कोई भेद नहीं है। वह परमात्मा सर्वथा विकाररहित, असङ्ग, अभेद और अखण्ड है। जब किसी दूसरे का अस्तित्व है ही नहीं, तब एकमात्र परब्रह्म परमात्मा का ही विभिन्न रूपों में उत्पन्न (प्रकट) होना स्वीकारने में किसी भी तरह का विरोध नहीं होना चाहिए। अतः यहाँ पर उक्त सूत्रों में विवेचित मान्यता ही उपयुक्त प्रमाणित होती है॥३६॥

उपर्युक्त सूत्रों में विवेचित तथ्य को ही सिद्ध करने हेतु आचार्य अगले सूत्र में एक दूसरी युक्ति प्रस्तुत करते हैं—

(३५६) अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः॥३७॥

सूत्रार्थ— अनेन = इस प्रकार भेद और अभेद के विवेचन द्वारा, आयामशब्दादिभ्यः = और श्रुति में जो ब्रह्म के व्यापकत्व सूचक शब्द आदि हेतु हैं; उनसे भी, सर्वगतत्वम् = उस (ब्रह्म) का सर्वत्र संव्याप्त होना सिद्ध होता है।

व्याख्या— परब्रह्म परमात्मा के सर्वत्र संव्याप्त होने के अनेक प्रमाण श्रुतियों में मिलते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् ३/९ एवं ईशोप.१ में वर्णन मिलता है कि 'उस सर्वश्रेष्ठ पुरुषोत्तम से यह समस्त जगत् संव्याप्त हो रहा है।' इसी प्रकार श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के आठवें अध्याय के २२ वें श्लोक में कहा गया है कि 'परमपुरुष वह है, जिससे यह सम्पूर्ण विश्व संव्याप्त हो रहा है।' इस प्रकार श्रुति-स्मृति दोनों के वचनों में जो परब्रह्म के सर्वत्र व्याप्त होने को सूचित करने वाले 'सर्वगत' आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उनसे और उपर्युक्त सूत्रों के विवेचन द्वारा भी यही सिद्ध होता है कि वह परब्रह्म सर्वत्र संव्याप्त है। सर्वथा अभेद मानने से भी इस व्याप्य-व्यापक भाव की सिद्धि नहीं

होगी। अत: यही निश्चय हुआ कि परब्रह्म परमात्मा अपनी दोनों- (परा-अपरा) प्रकृतियों से पृथक् भी है और अपृथक् भी; क्योंकि वे दोनों ही उनकी शक्तियाँ हैं। शक्ति एवं शक्तिमान् में भेद नहीं होता, इसलिए भी और उन प्रकृतियों के अभिन्न निमित्त-उपादानकारण होने के कारण भी वे उनसे अभिन्न हैं तथा इस प्रकार अभिन्न होते हुए भी उनके पालक होने से वे उनसे सतत विशेष लक्षणों से युक्त और सर्वोत्तम भी हैं॥३७॥

इस प्रकार उस परब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करने के पश्चात् अब इस तथ्य का समाधान करने के लिए प्राणियों के कर्मों का कर्मानुसार फल देने वाला कौन है? आचार्य अगले सूत्र से इसी प्रकरण का शुभारम्भ करते हैं—

(३५७) फलमत उपपत्तेः॥३८॥

सूत्रार्थ— फलम् = प्राणियों के कर्मों का फल, अत: = इस परब्रह्म परमात्मा से ही मिलता है, उपपत्तेः = क्योंकि ऐसा मानना ही उपयुक्त है।

व्याख्या— समस्त प्राणी परब्रह्म परमात्मा के आश्रय में ही अपने कर्म-फल रूपी भोगों को भोगते हैं; क्योंकि कर्मों का ज्ञाता एवं सर्वशक्तिमान् होने के कारण परब्रह्म ही ऐसी सामर्थ्य रख सकता है। परब्रह्म के अतिरिक्त न तो जड़-प्रकृति ही कर्मों को जानने एवं उनके फल की व्यवस्था करने में समर्थ है और न स्वयं जीवात्मा ही समर्थ है; क्योंकि वे दोनों ही अल्पज्ञ और अल्पशक्ति वाले हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के ७/२२ में कहा गया है कि 'कहीं-कहीं जो देवता आदि को कर्मों का फल-प्रदाता बतलाया है, वह भी भगवान् के विधान को लेकर बताया गया है, भगवान् ही उनको अपना निमित्त बनाकर कर्मकृत-फल प्रदान करते हैं। यहाँ इस प्रतिपादन से यह प्रमाणित होता है कि प्राणियों के कर्मफल-भोग विधि-व्यवस्था बनाने वाला एकमात्र वह परब्रह्म परमात्मा ही है, अन्य कोई नहीं हो सकता॥३८॥

अब जिज्ञासा होती है कि क्या केवल युक्ति से ही यह बात सिद्ध होती है या फिर इसमें श्रुति आदि प्रमाण भी हैं? सूत्रकार अगले सूत्र में इसी का समाधान प्रस्तुत करते हैं—

(३५८) श्रुतत्वाच्च॥३९॥

सूत्रार्थ— श्रुतत्वात् = श्रुति में ऐसा ही कथन होने से, च = भी (यही मानना उचित है कि कर्मफल की प्राप्ति परब्रह्म परमात्मा से ही होती है)।

व्याख्या— यह बात वेदों में जगह-जगह पर बारम्बार देखने को मिलती है कि प्राणियों के कर्मफल का द्रष्टा व प्रदाता एकमात्र परब्रह्म परमात्मा ही है। तैत्तिरीय उपनिषद् में भी परब्रह्म को ही 'महान् अज आत्मा कर्मफल प्रदाता' कहा गया है। अन्य श्रुतियाँ भी ऐसा ही बतलाती हैं, देखें- कठोपनिषद् २/२/८ में ऋषि इस प्रकार कहते हैं- **'य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते'** अर्थात् जो यह प्राणियों के कर्मानुसार विभिन्न तरह के भोगों का निर्माण करने वाला परम पुरुष परब्रह्म प्रलय काल में सबके सो जाने पर भी जागता रहता है, वही परम पवित्र है, वही ब्रह्म है और उसे ही अमृत कहा जाता है। ऐसा ही उल्लेख श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/१३ में किया गया है, देखें- **'नित्यो नित्यानाम् चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्'** अर्थात् 'जो एक, नित्य, परमचेतन, परब्रह्म बहुत से नित्य, चेतन आत्माओं के कर्मफल-भोग के विधान का नियम बनाता है।' इस प्रकार से इन श्रुति-दृष्टान्तों से यही सिद्ध होता है कि प्राणियों के कर्मफल की व्यवस्था बनाने वाला एकमात्र परब्रह्म परमात्मा ही है, अन्य और कोई नहीं॥३९॥

उक्त विषय के सन्दर्भ में सूत्रकार अगले सूत्र में आचार्य जैमिनि का मत प्रस्तुत करते हैं—

(३५९) धर्मं जैमिनिरत एव॥४०॥

सूत्रार्थ— अत एव = अत: पूर्वोक्त कारणों से ही, जैमिनिः = आचार्य जैमिनि, धर्मम् = धर्म (कर्म) को ही फल-प्रदाता बतलाते हैं।

व्याख्या— आचार्य जैमिनि की मान्यता है कि युक्तियों और वैदिक प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि धर्म अर्थात् कर्म स्वयं ही फल-प्रदाता है; क्योंकि यह प्रत्यक्ष रूप से प्राय: देखा जाता है कि कृषि आदि कर्म करने का अन्न की उत्पत्ति स्वरूप फल होता है। ऐसे ही श्रुति में भी 'अमुक फल की इच्छा हो, तो अमुक कार्य करना चाहिए।' इस प्रकार विधि-कथन होने से यही प्रमाणित होता है कि कर्म स्वयमेव फल-प्रदाता है। उससे पृथक् किसी कर्मफल-प्रदाता की कल्पना करना अनिवार्य नहीं है। जिस कर्म के द्वारा फल का उद्भव होता है, वह कर्म परब्रह्म से ही प्रकट होता है। धर्म, कर्म का ही पर्याय है। आचार्य जैमिनि के मतानुसार कर्म ही फल का देने वाला है। अत: श्रेष्ठ कर्म से श्रेष्ठ फल की प्राप्ति और निकृष्ट कर्म से निकृष्ट फल की प्राप्ति होना प्रमाणित होता है ॥४० ॥

अगले सूत्र में सूत्रकार आचार्य जैमिनि के उपर्युक्त कथन को अयुक्त सिद्ध करते हुए अपने मत की ही उपादेयता बतलाते हैं—

(३६०) पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥४१ ॥

सूत्रार्थ— तु = किन्तु, बादरायण:= आचार्य वेदव्यास, पूर्वम् = पूर्वोक्त परब्रह्म को ही कर्मफल प्रदाता मानते हैं, हेतुव्यपदेशात् = क्योंकि श्रुति में उस ब्रह्म को सबका कारण कहा गया है, (अत: यहाँ पर आचार्य जैमिनि का कथन उचित है, ऐसा प्रतीत नहीं होता)।

व्याख्या— आचार्य वेदव्यास जी आचार्य जैमिनि के विचार से सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि आचार्य जैमिनि जो कर्म को ही फल-प्रदाता कहते हैं, वह उचित नहीं है; क्योंकि कर्म तो निमित्त-मात्र होता है। वह जड़, परिवर्तनशील एवं क्षणभंगुर होने से फल की व्यवस्था करने में समर्थ नहीं हो पाता। अत: जैसा कि पूर्व के सूत्रों में बतलाया गया है कि एकमात्र वह परब्रह्म परमात्मा ही जीवों-प्राणियों के कर्मानुसार फल प्रदाता है। श्रुति (वेद) भी परब्रह्म परमात्मा को ही समस्त प्राणियों का हेतु (कारण) बतलाती है ॥४१ ॥

॥ इति तृतीयाध्यायस्य द्वितीय: पाद: समाप्त: ॥

॥ अथ तृतीयाध्याये तृतीयः पादः ॥

द्वितीय पाद के अन्तर्गत जीव की स्वप्न और सुषुप्ति का विवेचन करने के उपरान्त परब्रह्म के स्वरूप के सन्दर्भ में यह स्पष्ट किया गया कि वह साकार-निराकार दोनों लक्षणों से युक्त है। तदुपरान्त उस ब्रह्म का अपनी शक्ति स्वरूपा परा और अपरा प्रकृतियों से किस तरह भेद और अभेद है, यह भी स्पष्ट किया गया और अन्त में यह भी स्पष्ट किया गया कि प्राणियों के कर्मफल की व्यवस्था बनाने वाला एक मात्र वह परम-आत्मा ही है।

अब वेदान्त वचनों में जो एक ही आत्मविद्या का अनेक प्रकार से उल्लेख किया गया है, उसकी एकता बतलाने एवं विभिन्न जगहों में आये हुए भगवत् प्राप्ति सम्बन्धी भिन्न-भिन्न वाक्यों के विरोध हटाकर उनके एकत्व को बतलाने के लिए तृतीय पाद का शुभारम्भ करते हैं—

(३६१) सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥१ ॥

सूत्रार्थ— सर्ववेदान्तप्रत्ययम् = समस्त श्रुतियों (वेद-उपनिषदों) में एक ही अध्यात्मविद्या का विवेचन होने से, वह (विद्या) अभिन्न है, चोदनाद्यविशेषात् = क्योंकि आज्ञार्थक-विधायक शब्दादि में भेद नहीं होता।

व्याख्या— वेद-उपनिषद् आदि सभी श्रुतियों में जो विभिन्न तरह की अध्यात्म-विद्याओं का प्रतिपादन किया गया है, उन सबमें विधि-वचनों (शब्दादि) की समानता है। उन सबमें एकमात्र उस अविनाशी परब्रह्म के साक्षात्कार की ही चर्चा की गई है और सभी का अभीष्ट उसी को बतलाया गया है, अत: उन सभी की समानता है। एक ओर तो छा.उ. १/४/१ में **'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत'** अर्थात् 'ॐ यह अक्षर उद्‌गीथ है, ऐसी उपासना करे'। इस तरह के विभिन्न वाक्यांशों में प्रतीकोपासना का वर्णन करके उसके द्वारा ब्रह्म को लक्ष्य कराया गया है, तो अन्यत्र (तै.२/१ में) उसे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप और अन्तरहित है। मा.उ.- ६ में उसे सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सभी भूतों की उत्पत्ति और प्रलय का केन्द्रक कहा गया है। इस तरह विधि मुख से उसके कल्याणकारी दिव्य रूपों से उसे निरूपित किया गया और कहीं पर अर्थात् कठोपनिषद् १/३/१५ में उसे शब्द से परे, अस्पर्श, अरूप, नीरस,गन्धरहित एवं शाश्वत, नित्य, अनादि, अनन्त कहा गया है। इस तरह से सभी जड़ और चेतन से पृथक् कहकर उस ब्रह्म का लक्ष्य (बोध) कराया गया है और बाद में यह भी कहा गया कि उसे प्राप्त कर साधक जन्म-मृत्यु से भी मुक्त हो जाता है।

उक्त सभी दृष्टान्तों का एक मात्र उद्देश्य उस ब्रह्म को लक्ष्य कराकर उसे पा लेना है। सर्वत्र प्रकार भेद से उस ब्रह्म का ही चिन्तन करना बतलाया गया है। अत: विधि एवं साध्य की समानता से साधन रूप विद्याओं में यथार्थ भेद नहीं है, अधिकारी के भेद से प्रकार भेद देखने को मिलता है।

इसके अतिरिक्त जो अन्य शाखाओं के द्वारा विवेचित एक ही तरह की विद्याओं में आंशिक भेद दिखाई देता है, उसके द्वारा भी विद्याओं में अभेद ही मानना चाहिए, क्योंकि उनमें सभी जगह विधि वचन और फल की समानता है, अत: उनमें कोई यथार्थत: भेद नहीं होता है॥१ ॥

दृष्टान्तों के प्रतिपादन-शैली में कुछ भेद होने पर भी अध्यात्म-विद्या में भेद नहीं मानना चाहिए। आचार्य अगले सूत्र में इसी की विवेचना प्रस्तुत करते हैं—

(३६२) भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि॥२ ॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि ऐसा कहो कि , भेदात् = वहाँ उन स्थलों में प्रतिपादन करने की शैली का भेद है, अत:, न = समानता सिद्ध नहीं होती, इति न = तो, ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि, एकस्याम् = एक विद्या में, अपि = भी (इस तरह के प्रतिपादन का भेद होना उचित ही है, अनुचित नहीं)।

व्याख्या— उस अविनाशी परब्रह्म को श्रुतियों में कहीं सत्, कहीं सर्वज्ञ, कहीं विज्ञान-आनन्दमय, कहीं सर्वव्यापक, तो कहीं साकार ब्रह्म आदि कहकर उपासना विधि भी उसके अनुरूप कही गई है। यहाँ इस

प्रकार के भेदपूर्ण वर्णन से श्रुति- वाक्यों की एकता-समानता प्रमाणित नहीं होती। यदि ऐसा कहा जाय; तो यह अनुचित है; क्योंकि समस्त श्रुति-स्मृतियों ने जगत् के उत्पन्न होने के पूर्व एकमात्र अविनाशी सत् तत्त्व ब्रह्म को ही कारण रूप में स्थित कहा है। उसे ही '**आत्मा, प्रजापति, आनन्दमय और अव्याकृत**' नाम से श्रुति वाक्यों में विवेचित किया गया है। वे समस्त श्रुतियाँ उस ब्रह्म की उपासना के उद्देश्य से ही कर्म-विधि का निर्देशन करती हैं; किन्तु शैली-भाव और प्रतिपादन के अनुसार उनके विधान में अन्तर हो सकता है। इससे स्पष्ट हुआ कि विभिन्न तरह से उपासना-विधि बतलाकर भी एक ही परब्रह्म की उपलब्धि का उद्देश्य इन श्रुति वाक्यों में समाहित है। इस प्रकार से एक ही सत् तत्त्व का प्रतिपादन करने वाली एक ही अध्यात्म विद्या में वर्णन का भेद होना ठीक नहीं है। उद्देश्य एवं परिणाम एक होने से उन सभी की समानता ही है॥२॥

मुण्डकोपनिषद् ३/२/१० में वर्णन मिलता है कि 'जिसने शिरोव्रत अर्थात् सिर पर जटा धारण करके ब्रह्मचर्य व्रत का नियमतः पालन किया हो, उसे ही इस अध्यात्म विद्या का उपदेश देना चाहिए।' लेकिन अन्य शाखा वालों ने ऐसा नहीं बतलाया। अतः यहाँ इस शाखा में वर्णित अध्यात्म विद्या का अन्य शाखाओं में वर्णित अध्यात्मविद्या से निश्चय ही भेद होना चाहिए। इस आशंका का समाधान आचार्य अगले सूत्र में बतला रहे हैं—

(३६३) स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः॥३॥

सूत्रार्थ— स्वाध्यायस्य = (शिरोव्रत का पालन) अध्ययन का (अङ्ग है), हि = क्योंकि, समाचारे = आथर्वणिक शाखा के उपदेश में, तथात्वेन = अध्ययन के अङ्गरूप से ही उसका नियम है, च = और, अधिकारात् = उस व्रत का पालन निभाने वाले का ही अध्यात्मविद्या के अध्ययन में अधिकार होने से, च = भी, सववत् = '**सव**' होम की तरह, तन्नियमः = वह शिरोव्रत वाला नियम आथर्वणिकों के लिए ही है।

व्याख्या— अथर्वण शाखा की मुण्डकोपनिषद् ३/२/१० में कहा गया है कि 'उन्हीं को इस अध्यात्म विद्या का उपदेश देना चाहिए, जिसने विधिपूर्वक शिरोव्रत का पालन किया है।' उपर्युक्त शाखा वालों के लिए जो शिरोव्रत के पालन का नियम निर्धारित किया गया है, वह विद्या के भेद से नहीं, बल्कि उन शाखा वालों के पठन सम्बन्धी परम्परागत आचरण में ही यह नियम दीर्घकाल से चला आ रहा है कि जो शिरोव्रत के नियम को निभाता हो, उसे ही उपर्युक्त अध्यात्म विद्या का उपदेश प्रदान करना चाहिए। एकमात्र उसे ही उस ब्रह्मविद्या की प्राप्ति में अधिकार है। जिसने शिरोव्रत को नहीं निभाया, उसका उस ब्रह्मविद्या के अध्ययन में अधिकार नहीं है। जैसे '**सव**' (यज्ञ) में मन्त्रों के स्मरण का विधान उन्हीं की शाखा वालों के लिए है, वैसे ही इस शिरोव्रत के निभाने का विधान भी उन्हीं (स्वाध्याय करने वाले) लोगों के लिए है। अतः यह नियम एकमात्र पठन-पाठन से सम्बन्धित होने से इससे ब्रह्म विद्या की समानता (एकता) में किसी भी तरह का कोई विरोध नहीं है॥३॥

सभी उपनिषदों में एक ही परब्रह्म के स्वरूप को व्यक्त करने के लिए ही प्रकार भेद से अध्यात्म (ब्रह्म) विद्या का उल्लेख मिलता है। आचार्य अगले सूत्र में इसी तथ्य को वेद प्रमाण से भी प्रमाणित करते हैं—

(३६४) दर्शयति च॥४॥

सूत्रार्थ— च = तथा, दर्शयति = श्रुति (भी) ऐसा ही दिखलाती है।

व्याख्या— वेदों - श्रुतियों में भी अध्यात्म (ब्रह्म) विद्या की अभिन्नता प्रतिपादित की गई है। कठोपनिषद् १/२/१५ में वर्णन किया गया है कि '**सर्वेवेदायत्पदमामनन्ति**' अर्थात् सभी वेद (श्रुतियों ने) जिस (उस) परम प्राप्य परब्रह्म ॐ का प्रतिपादन करते हैं। ऐसा ही प्रतिपादन अन्यान्य श्रुतियों में भी किया गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/११ में स्पष्ट संकेत दिया गया है- '**एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः**' अर्थात् एक ही देव सम्पूर्ण प्राणियों में छिपा है। तैत्ति. २/७/१ में कहा गया है कि 'ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है, उसके नानात्व व अनेकता की श्रुतियों

(उपनिषदों) में निन्दा की गई है। ऋग्वेद १/५२/१ में भी एकमात्र ब्रह्म की अभिन्नता व उपासना का स्पष्ट वर्णन मिलता है- 'एक ही परब्रह्म ने अपने से अतिरिक्त इस समस्त विश्व को अपने नियन्त्रण में किया हुआ है। उसी की उपासना वरणीय है।' गीता के अ.५/१५ में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है- **'वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्यः'** अर्थात् 'सभी वेदों के द्वारा एकमात्र मैं (परमेश्वर)ही जानने योग्य हूँ।' इस प्रकार श्रुति- स्मृति में एकमात्र एक ही परमेश्वर की अभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। अतः उक्त दृष्टान्तों -पुष्ट वचनों से यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म (अध्यात्म) विद्या अलग-अलग नहीं, एक ही है॥४॥

परब्रह्म की अभिन्नता के प्रतिपादन में एक स्थान की अपेक्षा दूसरी जगह कुछ बातें अधिक और कहीं कम बातें कही गई हैं। ऐसी स्थिति में विभिन्न प्रकरणों के वर्णन की समानता कैसे होगी ? इसी का समाधान सूत्रकार अगले सूत्र में करते हैं—

(३६५) उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च॥५॥

सूत्रार्थ— समाने = एक ही तरह की विद्या में, च = ही, अर्थाभेदात् = अर्थ (प्रयोजन) में भेद न होने से, उपसंहारः = एक स्थान पर कहे हुए गुणों का दूसरे स्थान पर उपसंहार कर लेने, विधिशेषवत् = विधिशेष की भाँति (ठीक ही है)।

व्याख्या— जिस तरह कर्मकाण्ड में प्रयोजन (अर्थ) का भेद न होने से एक शाखा में कहे हुए अग्निहोत्रादि के विधिशेषरूप यज्ञादि धर्मों का अन्यत्र (अन्य शाखा वालों द्वारा) भी उपसंहार रूप से स्वीकार कर लिया जाता है, उसी तरह से विभिन्न प्रकरणों के द्वारा व्यक्त हुई ब्रह्मविद्या के प्रतिपादन में भी प्रयोजन भेद न होने से एक स्थान पर व्यक्त की हुई बातों का अन्यत्र अर्थात् अन्य शाखा वाले उपसंहार (स्वीकार) कर लेते हैं, यही उचित भी है॥५॥

श्रुति में जितनी भी ब्रह्मविद्याएँ विवेचित हैं, उनमें कहीं शब्दभेद, तो कहीं नाम भेद और कहीं प्रकरण भेद से भिन्नता दिखाई देती है; अतः इसकी समानता का वर्णन करने हेतु अगले सूत्र में स्वयं सूत्रकार शङ्का उत्पन्न करके समाधान प्रस्तुत करते हैं—

(३६६) अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात्॥६॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि यह कहें कि, शब्दात् = कहे हुए शब्द द्वारा, अन्यथात्वम् = दोनों विद्याओं की भिन्नता प्रतीत होती है, अतः एकता प्रमाणित नहीं होती, इति न = तो ऐसा नहीं है, अविशेषात् = क्योंकि विधि और फल आदि में भेद (विशेषता) न होने से (दोनों विद्याओं में समानता है)।

व्याख्या— यदि यह कहें कि दोनों तरह से ब्रह्मविद्या का वर्णन होने से वे दोनों विद्याएँ अलग-अलग हैं, क्योंकि छा.उ. ८/१/१ और ८/७/१ में दहर विद्या और प्राजापत्य विद्या नामक दो तरह की विद्याओं का उल्लेख प्राप्त होता है। ये दोनों विद्याएँ परब्रह्म की प्राप्ति का मार्ग बतलाने वाली हैं, इस कारण से इनकी समानता मानी जाती है। इसमें आशंका होती है कि दोनों विद्याओं में शब्द का अन्तर है अर्थात् छा.उ. ८/१/१ में दहरविद्या के प्रकरण में मनुष्य देहरूप ब्रह्मपुर में हृदय रूप घर में जो आन्तरिक आकाश है तथा उसके भीतर जो वस्तु है, उसे जानना चाहिए।' ऐसे ही छा. उ. ८/७/१ में प्राजापत्यविद्या के प्रकरण में 'अपहतपाप्मा' आदि विशेषणों से सम्पन्न आत्मा को जानने के योग्य बतलाया गया है। इस प्रकार दोनों विद्याओं के भिन्नत्व से वे एक नहीं हैं। इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि दहरविद्या में जिसे जानने योग्य बतलाया गया है, उसे (ब्रह्म को) प्राजापत्य विद्या में आत्मा रूप से उस परमात्मा को सबका आश्रय कहने के लिए पहले उसके अन्दर की वस्तुओं को जानने के लिए कहा गया है। इस प्रकार दोनों विद्याओं में यथार्थतः कोई भेद न होने से भिन्न प्रकार से विवेचन होने पर

भी उनमें एकता (समानता) ही होती है। ऐसे ही अन्यत्र दूसरी विद्याओं में भी समानता स्वीकारनी चाहिए ॥६॥

अब सूत्रकार अगले सूत्र में विद्याओं की समानता को सिद्ध करने के लिए अन्य असमान विद्याओं से उनकी विशिष्टता का विवेचन करते हैं—

(३६७) न वा प्रकरणभेदात्परोऽवरीयस्त्वादिवत् ॥७॥

सूत्रार्थ— वा = अथवा, परोऽवरीयस्त्वादिवत् = परम श्रेष्ठ अथवा सामान्य आदि गुणों से युक्त अन्य विद्याओं के सदृश, प्रकरणभेदात् = प्रकरण के भेद से (उक्त दोनों विद्याएँ), न = भिन्न सिद्ध नहीं हो सकतीं।

व्याख्या— छान्दोग्य और बृहदारण्यक दोनों उपनिषदों में उद्गीथ-विद्या का उल्लेख मिलता है। छा.उ. १/१ के पूर्व खण्ड में जो उद्गीथ-विद्या विवेचित है, वह अतिश्रेष्ठ है; क्योंकि वहाँ पर उद्गीथ की 'ॐ' कार के साथ एकत्व स्थापित करके उसका महत्त्व प्रवर्द्धित किया गया है। इसलिए (छा.उ. १/९/१ से ४ तक में) उसका फल भी अत्यधिक श्रेष्ठतम विवेचित किया गया है, किन्तु (बृह०उ० १/३/१ से २७ तक में) उद्गीथ विद्या एकमात्र प्राणों का श्रेष्ठत्व सम्पादन करने हेतु एवं यज्ञादि में उद्गीथ गान की अवधि में स्वर की विशिष्टता दिखलाने के लिए है। अत: वहाँ पर उसका फल भी वैसा नहीं कहा गया है। दोनों उपनिषदों में केवल देवासुर-संवाद सम्बन्धी एकता है; किन्तु उसमें भी उपासना की विधि में भिन्नता है। अत: किञ्चित्मात्र एकता के कारण दोनों की एकता नहीं हो सकती। एकता के लिए उद्देश्य, कारण विधेय एवं फल की एकता चाहिए, जो कि उन उपनिषदों में नहीं है। इसलिए उनमें भिन्नता होना ठीक है; किन्तु ऊपर विवेचित दहर और प्राजापत्य विद्या में ऐसा नहीं है, मात्र विवेचन की भिन्नता है। अत: विवेचन मात्र की भिन्नता होने से उत्तम और मध्यम आदि की भिन्नता से सम्पन्न उद्गीथ विद्या के सदृश ऊपर वर्णित दहर और प्राजापत्य विद्या में भिन्नता सिद्ध नहीं हो सकती; क्योंकि दोनों के उद्देश्य, विधेय एवं फल में पृथक्ता नहीं है। अत: यहाँ पर दोनों विद्याओं का भिन्नत्व सिद्ध नहीं होता ॥७॥

अगले सूत्र में आचार्य अन्य तरह की आशङ्का का उत्तर देकर दोनों विद्याओं की समानता को पुष्ट करते हैं—

(३६८) संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ॥८॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि यह कहो कि, संज्ञात: = परस्पर संज्ञात्मक भिन्नता होने के कारण (समानता सिद्ध नहीं हो सकती) तो , तदुक्तम् = उसका उत्तर (सूत्र ३/१/१ में) दिया जा चुका है, तु = तथा, तदपि = वह (संज्ञात्मक भिन्नता से होने वाली विद्याविषयक विषमता) भी, अस्ति = अन्यत्र वर्णित है।

व्याख्या— यदि ऐसा कहें कि उसमें संज्ञात्मक अर्थात् नाम का भेद है, उस विद्या का नाम दहर और दूसरी का नाम प्राजापत्य विद्या है। अत: दोनों की समानता नहीं हो सकती, ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं; तो इसका उत्तर पहले ही सूत्र ३/३/१ में दिया जा चुका है। वहाँ कहा जा चुका है कि सभी उपनिषदों में पृथक्-पृथक् नामों से जिन अध्यात्म (ब्रह्म) विद्याओं का उल्लेख किया गया है, उन सभी में विधिवाक्य, फल एवं उद्देश्य-विधेय आदि की समानता होने के कारण सभी ब्रह्म विद्याओं में समानता है। अत: यहाँ संज्ञात्मक नाम-भेद से किसी भी तरह का कोई विरोध नहीं है। इसके अतिरिक्त छा.उ. ३/१८/१ और ३/१९/१ में कहा गया है कि जिनमें उद्देश्य, विधेय और फल आदि की एकता नहीं है, उन विद्याओं में संज्ञात्मक नाम आदि से भेद होता है तथा वैसी ही विद्याओं का उल्लेख भी उपनिषदों में ही मिलता है; किन्तु उन विद्याओं से ब्रह्मविद्या का किसी भी तरह का सम्बन्ध नहीं है ॥८॥

संज्ञात्मक नाम का भेद होने से भी विद्या में समानता हो सकती है, इस बात को सिद्ध करने हेतु आचार्य अगले सूत्र में एक अन्य कारण बतलाते हैं—

(३६९) व्याप्तेश्च समञ्जसम् ॥९॥

सूत्रार्थ— व्याप्तेः = ब्रह्म सर्वत्र संव्याप्त है, इस कारण; च = भी, समञ्जसम् = ब्रह्म विद्याओं के विवेचन में समानता है।

व्याख्या— परब्रह्म की व्यापकता सर्वत्र प्रसिद्ध है। श्रुतियों-स्मृतियों में एकमात्र परब्रह्म के सर्वव्यापकत्व का ही प्रतिपादन किया गया है। परमात्मा सर्वव्यापक होने के साथ-साथ सर्वशक्तिमान् एवं सर्वज्ञ भी है। इसी कारण ब्रह्म-सम्बन्धी विद्या के पृथक्-पृथक् नाम एवं प्रकरण के आने पर भी उनकी समानता (एकता) होना ठीक ही है; क्योंकि उन ब्रह्म सम्बन्धी समस्त आध्यात्मिक विद्याओं का उद्देश्य एकमात्र परब्रह्म के स्वरूप को ही भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रस्तुत करना है। इसलिए बह्मविद्याओं का विभिन्न प्रकार से विवेचन होने से भी वे सब एक ही हैं तथा समस्त विद्याओं का उद्देश्य एकमात्र परब्रह्म की प्राप्ति ही प्रमाणित होता है॥९॥

अब जिज्ञासा उठती है कि विद्याओं की समानता एवं भिन्नता के निर्णय हेतु प्रकरण, संज्ञा एवं विवेचन की समानता और भेद की अपेक्षा है या नहीं? सूत्रकार अगले सूत्र में इसी का समाधान दे रहे हैं—

(३७०) सर्वाभेदादन्यत्रेमे॥१०॥

सूत्रार्थ— सर्वाभेदात् = सर्वस्वरूप परब्रह्म सम्बन्धी समस्त विद्याओं के अभेद से, अन्यत्र = अन्य स्थल पर दूसरी विद्या के सम्बन्ध में, इमे = इन पूर्व सूत्रों में कहे हुए सभी हेतुओं का उपयोग हुआ है।

व्याख्या— विभिन्न स्थलों में विभिन्न तरह से विवेचित ब्रह्म से सम्बन्धित अन्य विद्याओं में भी भेद नहीं होता; क्योंकि अन्य जगहों में विवेचित समस्त हेतु परब्रह्म की प्राप्ति के लिए ही कहे गये हैं। इससे प्रमाणित होता है कि परब्रह्म से सम्बन्धित समस्त विद्याएँ अभिन्न हैं। परमात्मा सबसे अभिन्न एवं सर्वस्वरूप है। इसलिए उसके तत्त्वज्ञान का प्रतिपादन करने वाली आध्यात्मिक विद्याओं में कोई भेद नहीं रहता। अतः संज्ञा, प्रकरण एवं शब्दों से इन विद्याओं की भिन्नता प्रमाणित नहीं की जा सकती; क्योंकि ब्रह्म के लिए सभी संज्ञाएँ हो सकती हैं। हर प्रकरण में ब्रह्मविद्या की बात आ सकती है और उसकी विवेचना भी पृथक्-पृथक् सभी शब्दों से की जा सकती है; किन्तु ब्रह्मविद्या के अलावा जो अन्य विद्याएँ हैं, जिनका उद्देश्य ब्रह्म का विवेचन करना नहीं है; उनकी एक दूसरे से पृथक्ता या अपृथक्ता को जानने के लिए पूर्व सूत्रों में कहे हुए प्रकरण, संज्ञा एवं शब्द नामक तीनों हेतुओं का प्रयोग किया जा सकता है। अतः उपर्युक्त प्रतिपादनों से प्रमाणित हो जाता है कि परब्रह्म के विवेचन के सन्दर्भ में समस्त विद्याएँ एक हैं, अन्य नहीं॥१०॥

अगले सूत्र में शिष्य जिज्ञासा करता है कि वे कौन से गुण हैं, जिनका वर्णन एक स्थान पर होकर अन्यत्र भी उनका सम्बन्ध हो जाता है? सूत्रकार इसी का समाधान दे रहे हैं—

(३७१) आनन्दादयः प्रधानस्य॥११॥

सूत्रार्थ— आनन्दादयः = आनन्द आदि, प्रधानस्य = प्रधान अर्थात् परब्रह्म परमात्मा के धर्म (गुण) हैं। (उन समस्त आनन्दादि गुणों का अन्यत्र भी ब्रह्म के वर्णन में अध्याहार किया जा सकता है)।

व्याख्या— परब्रह्म परमात्मा के जिन आनन्दादि गुणों (धर्मों) का वर्णन श्रुति में एक स्थल पर किया गया है, उन्हीं गुणों का उपसंहार (अध्याहार) अन्य स्थलों पर भी कर लिया जाता है। इस कारण जिन विशेष गुणों की विशिष्टता पूर्व में व्यक्त करने से रह गई है, वह अन्यत्र प्रतिपादित की जा चुकी है या कर देनी चाहिए। सूत्रकार ने यहाँ पर 'प्रधान' पद को ब्रह्म का बोधक बतलाया है; वह (ब्रह्म) सभी चेतन-अचेतन जगत् का संचालक जीवनदाता है। सूत्र के 'आदि' पद से सत्य, ज्ञान एवं उसकी व्यापकता आदि का ग्रहण (बोध) होता है। परमात्मा के आनन्द, सत्य, तत्त्वज्ञान आदि ऐसे गुण हैं, जिनको सभी उपासनाओं में सम्मिलित होना मानना चाहिए, चाहे वहाँ इनकी विवेचना भले ही न की गई हो। इसका तात्पर्य यह है कि सभी उपासनाओं में उपास्य एकमात्र ब्रह्म ही है। ये सभी गुण ब्रह्म के यथार्थ रूप को प्रकट करते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् में इन

गुणों का जैसा स्पष्ट व विस्तृत उल्लेख किया गया है, अन्यत्र नहीं देखने को मिलता। अत: अन्यत्र विवेचित उपासनाओं में जिज्ञासु को परब्रह्म के ऐसे दिव्य स्वरूप का चिन्तन-मनन करना अनिवार्य होने से यहाँ इन श्रेष्ठ गुणों का सम्बन्ध मान लेना चाहिए ॥११॥

अब आशंका होती है कि तैत्ति. उप. में ब्रह्म के 'प्रियशिरस्त्व' अर्थात् प्रिय ही उसका सिर है आदि गुणों (धर्मों) का वर्णन है। क्या उनका भी सर्वत्र ब्रह्मविद्या में संग्रह हो सकता है ? इसी का अगले सूत्र में आचार्य समाधान करते हैं—

(३७२) प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॥१२॥

सूत्रार्थ— प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिः = 'प्रियशिरस्त्व' अर्थात् 'प्रियरूप सिर का होना' आदि लक्षणों की प्राप्ति अन्यत्र ब्रह्मविद्या के प्रकरण में नहीं होती है; हि = क्योंकि, भेदे = इस प्रकार सिर आदि अङ्गों का भेद मानने पर, उपचयापचयौ = परबह्म में वृद्धि और ह्रास का दोष -प्रसङ्ग उपस्थित होगा।

व्याख्या— तैत्तिरीयोपनिषद् के ब्रह्मानन्दवल्ली के पाँचवे अनुवाक के प्रथम सूत्र में वर्णिन आता है- **तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणपक्षः। प्रमोदः उत्तरपक्षः।** आनन्द आत्मा का 'प्रेम' सिर है, मोद दाहिना पक्ष है, प्रमोद उत्तर पक्ष (अर्थात् दायें-बाएँ हाथ) हैं। आनन्द उस आत्मा रूप देह का मध्य भाग है और ब्रह्म ही उसका पुच्छ एवं आधार है। इस प्रकार पक्षी का रूपक प्रदान करके उपनिषद्कार ने जो अङ्गों की कल्पना की है, यह ब्रह्म का स्वरूपगत धर्म नहीं प्रतीत होती है। इस कारण इसका संग्रह अन्यत्र ब्रह्मविद्या के अन्तर्गत करना उचित नहीं लगता; क्योंकि इस प्रकार अङ्ग-प्रत्यङ्गों के भेद से ब्रह्म में भेद मान लेने पर उसमें वृद्धि और ह्रास के दोषों की आशङ्का उत्पन्न होगी। अत: परब्रह्म के जो सहज (धर्म) लक्षण न हों, जो किसी रूपक को लक्ष्य मानकर कहे गये हों, उन्हें अन्यत्र प्रयोग में नहीं लेना चाहिए ॥१२॥

उक्त प्रकरण में जो आनन्द एवं ब्रह्म शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उनको अन्यत्र लेना चाहिए अथवा नहीं ? सूत्रकार इस जिज्ञासा का समाधान यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

(३७३) इतरे त्वर्थसामान्यात् ॥१३॥

सूत्रार्थ— तु = परन्तु , इतरे = अन्य जो आनन्द आदि धर्म (गुण) हैं, वे (ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करने हेतु श्रुति में कहे गये हैं, अत: अन्यत्र ब्रह्मविद्या के सन्दर्भ में उन्हें स्वीकार किया जा सकता है), अर्थसामान्यात् = क्योंकि वे सभी अर्थ की समानता के उद्देश्य से व्यक्त किये गये हैं।

व्याख्या— अंग-अवयवों की कल्पना से सम्पन्न जो 'प्रियशिरस्त्व' आदि धर्म (गुण) हैं, वे तो रूपक मात्र ही हैं। उक्त गुणों से पृथक् दूसरे-अन्य 'आनन्द' आदि स्वरूपगत धर्म हैं, वे परब्रह्म के सहज-स्वाभाविक गुण हैं, उनका अर्थ भी गुणवत् ही है। अत: उन आनन्दादि गुणों का विवेचन ही युक्तिसंगत है। उन श्रेष्ठ गुणों का संग्रह हर एक ब्रह्मविद्या के प्रसङ्ग-प्रकरण में विवेचित किया जा सकता है; क्योंकि उनमें अर्थ की एकता है अर्थात् उन समस्त गुणों के द्वारा प्रतिपाद्य परब्रह्म मात्र एक ही है ॥१३॥

उपर्युक्त सूत्र में रूपक की कल्पना क्यों की गई है ? इसी का समाधान सूत्रकार अगले सूत्र में करते हैं—

(३७४) आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॥१४॥

सूत्रार्थ— प्रयोजनाभावात् = अन्य किसी भी तरह के उद्देश्य का अभाव होने से (यही ज्ञात होता है कि), आध्यानाय = उस परब्रह्म का सम्यक् रूप से ध्यान करने के लिए ही उसका तत्त्व लक्षणों-रूपकों के द्वारा बतलाया गया है।

व्याख्या— तैत्तिरीयोपनिषद् २/१ के अनुसार इस रूपक का अन्य कोई उद्देश्य दृष्टिगोचर नहीं होता, अत: यही जानना चाहिए कि सर्वप्रथम जिस परब्रह्म का सत्य, ज्ञान एवं अनन्त के नाम द्वारा उल्लेख कर उसे (ब्रह्म

को) सभी भूतों के हृदय में विद्यमान कहा गया है तथा उसके मिलने की महत्ता का भी उल्लेख किया गया है। यहाँ इस रूपक में अंगों-अवयवों का उल्लेख करने से किसी अन्य उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती; परन्तु ऐसा लगता है कि ब्रह्म का अच्छी तरह से चिन्तन-मनन हो सके, इसी हेतु ऐसा उल्लेख किया गया है। जो ब्रह्म किसी भी इन्द्रिय से ग्रहणीय नहीं होता तथा जो हृदय रूपी गुहा में बुद्धि से स्थित रहता है, उसे सद्ज्ञान, सद्बुद्धि व गुरुकृपा द्वारा ही जाना जा सकना संभव है। रूपक के अन्तर्गत पुरुष के अवयवों का पक्षी द्वारा तुलनात्मक प्रतिपादन करके अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व आनन्दमय पुरुष का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि सूक्ष्म तत्त्व के विश्लेषण से एक ही परमात्मतत्त्व (अन्तरात्मा) को लक्षित किया गया है ॥१४॥

यहाँ आनन्दमय से अन्तरात्मा को ही लक्षित किया गया है, अन्य किसी तत्त्व को नहीं, यह कैसे निश्चय किया जा सकता है ? अगले सूत्र में इसी का समाधान करते हैं—

(३७५) आत्मशब्दाच्च ॥१५ ॥

सूत्रार्थ— आत्मशब्दात् = आत्मा शब्द का प्रयोग होने से, च = भी (ऐसा ही सिद्ध हो जाता है)।

व्याख्या— पूर्व सूत्र में सूत्रकार द्वारा कहे हुए कारण के अतिरिक्त यहाँ इस कथन में भी बारम्बार (आनन्दमय को) सभी की अन्तरात्मा बतलाते हुए आनन्दमय को ही विज्ञानमय की अन्तरात्मा बतलाते हैं। उसके पश्चात् अन्तरात्मा अन्य किसी दूसरे को नहीं कहा गया है। इससे भी सिद्ध हो जाता है कि यहाँ समस्त प्राणियों की अन्तरात्मा रूप आनन्दमय ही एकमात्र परब्रह्म है ॥१५ ॥

'आत्मा' शब्द का प्रयोग तो अधिकांशतः 'जीवात्मा' का ही वाची होता है। फिर यह कैसे निश्चित हुआ कि यहाँ 'आत्मा' शब्द 'ब्रह्म' का ही वाची है। इसी पर अगले सूत्र में आचार्य अपना मत प्रस्तुत करते हैं—

(३७६) आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॥१६ ॥

सूत्रार्थ— आत्मगृहीतिः = 'आत्म' शब्द से परब्रह्म का ग्रहण होना, इतरवत् = अन्य श्रुतियों के सदृश, उत्तरात् = उसके बाद के वर्णन से भी (प्रतिपादित होता है)।

व्याख्या— सूत्रकार कहते हैं कि जिस प्रकार ऐतरेयोपनिषद् १/१ में वर्णन आता है- '**आत्मा वा इदमेकमेवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चनमिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति**' अर्थात् 'पूर्व में यह एक आत्मा ही था, उसने इच्छा की, कि मैं लोकों की सर्जना करूँ।' यहाँ पर इस श्रुति में प्रजा की सृष्टि-संरचना के प्रकरण को माध्यम बनाकर 'आत्मा' शब्द का प्रयोग हुआ है। अतः यहाँ आत्मा शब्द को ही परब्रह्म का वाची स्वीकार किया गया है। ऐसे ही तैत्तिरीयोपनिषद् में भी आनन्दमय का उल्लेख करने के तुरन्त बाद ही '**सोऽकामयत बहुस्याम्**' अर्थात् उसने इच्छा की, कि मैं बहुत हो जाऊँ' इत्यादि वचनों से उस आनन्दमय आत्मा से सम्पूर्ण जगत् के उद्भव-विकास का विवेचन किया गया है। अतः बाद में आये हुए इस वर्णन से भी यह प्रमाणित हो जाता है कि यहाँ 'आत्मा' शब्द परब्रह्म का वाची है तथा 'आनन्दमय' नाम भी यहाँ उस एकमात्र परब्रह्म का ही है ॥१६ ॥

उपर्युक्त कथन में पुनः आशङ्का उत्पन्न करके सूत्रकार अगले सूत्र में उसका समाधान प्रस्तुत करते हुए पूर्वोक्त सिद्धान्त को और भी अधिक दृढ़ कर रहे हैं—

(३७७) अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ॥१७ ॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि यह कहो कि, अन्वयात् = प्रत्येक वाक्य में 'आत्म' शब्द का अन्वय होने से यह सिद्ध नहीं होता कि आनन्दमय ब्रह्म है, इति = तो इसका उत्तर यह है कि, अवधारणात् = निर्धारित किये जाने से, स्यात् = (आनन्दमय ही ब्रह्म है) यह कथन सिद्ध हो सकता है।

व्याख्या— यदि यह कहें कि तैत्ति. उप. की ब्रह्मानन्दवल्ली में 'आत्मा' शब्द तो समस्त वाक्यों के बाद में प्रयुक्त हुआ है। तो फिर मात्र आत्मा-शब्द के प्रयोग से 'आनन्दमय' को ही परब्रह्म कैसे मान लें? तो इसके समाधान में सूत्रकार कहते हैं कि जिस 'आत्मा' शब्द की सभी वाक्यों में व्याप्ति है, वह ब्रह्मवाची नहीं है। अन्नमय, प्राणमय आदि आत्माओं को ब्रह्म का शरीर और ब्रह्म को उनकी अन्तरात्मा कहने के उद्देश्य से वहाँ सबके साथ 'आत्मा' शब्द का प्रयोग किया गया है। अत: अन्नमय का अन्तरात्मा उससे पृथक् प्राणमय को कहा गया है। पुन: प्राणमय का अन्तरात्मा उससे पृथक् मनोमय को कहा और मनोमय का अन्तरात्मा विज्ञानमय को एवं विज्ञानमय का अन्तरात्मा आनन्दमय को कहा है। तदुपरान्त आनन्दमय का अन्तरात्मा दूसरे अन्य किसी को नहीं कहा है तथा अन्त में यह निश्चित कर दिया कि इसका देह सम्बन्धी आत्मा यह स्वयमेव है, जो कि पूर्व में कहे हुए अन्य सभी पुरुषों का भी आत्मा है। ऐसा बतलाकर उसी से जगत् के उद्‌भव का विवेचन किया है। इस तरह से यहाँ आनन्दमय को पूरी तरह से परब्रह्म निर्धारित कर दिया गया है। इसी से प्रमाणित होता है कि 'आनन्दमय' शब्द परब्रह्म वाची है॥१७॥

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त रूप है) इस कथन द्वारा कहा हुआ ब्रह्म ही यहाँ अन्नरसमय पुरुष है या फिर उससे पृथक् अन्य कोई है? अगले सूत्र में आचार्य इसी जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत करते हैं—

(३७८) कार्याख्यानादपूर्वम्॥१८॥

सूत्रार्थ— कार्याख्यानात् = परब्रह्म का कार्य कहा जाने के कारण यह पुरुष, अपूर्वम् = वह पूर्वोक्त ब्रह्म नहीं हो सकता।

व्याख्या— यहाँ इस प्रकरण के अन्तर्गत जिस अन्नमय पुरुष का उल्लेख किया गया है, वह पूर्वोक्त ब्रह्म नहीं हो सकता; बल्कि अन्न का परिणामभूत यह चैतन्यमय मानव-देह ही यहाँ अन्नरस से युक्त पुरुष के नाम से बताया गया है; क्योंकि इस पुरुष को उस उपर्युक्त परब्रह्म का आकाश आदि के क्रमानुसार कार्य बताया गया है। साथ ही इसकी अन्तरात्मा प्राणमय आदि के क्रमानुसार विज्ञानमय जीवात्मा को कहा है और विज्ञानमय का आत्मा ब्रह्म को कहकर बाद में आनन्द के साथ उस ब्रह्म की समानता व्यक्त की गई है। अत: जिसके 'सत्य' 'प्राण' एवं 'अनन्त' ये धर्म कहे गये हैं और जो 'आत्मा' एवं 'आनन्दमय' नाम से जगत् का कारण कहा गया है, ब्रह्म इस अन्नरस से युक्त पुरुष से पृथक् (परे) समस्त भूतों का अन्तरात्मा है॥१८॥

सूत्र सं. ११ से १८ तक 'आनन्द' नामक प्रकरण का शुभारम्भ कर उसे पूर्ण कर दिया गया। अब अगले सूत्र में सूत्रकार पूर्व में प्रारम्भ किये हुए प्रकरण पर अन्य श्रुतियों के विषय में बतलाते हैं—

(३७९) समान एवं चाभेदात्॥१९॥

सूत्रार्थ— एवम् = इसी प्रकार, च = भी, समान: = (एक शाखा में ब्रह्मविद्या की) समानता समझनी चाहिए, अभेदात् = क्योंकि शाखा के दोनों स्थलों पर उपास्य-ब्रह्म में कोई भेद नहीं है।

व्याख्या— वाजसनेयी शाखा के अन्तर्गत (शतपथ ब्राह्मण १०/६/३/२) में अग्नि रहस्य विद्या (जिसे शाण्डिल्य विद्या भी कहा जाता है) का वर्णन इस प्रकार मिलता है- 'सत्य ही ब्रह्म है, ऐसा जानकर उपासना करनी चाहिए। निश्चय ही यह पुरुष श्रेष्ठ संकल्पों से युक्त है। वह जितने संकल्पों से युक्त होकर इस लोक से प्रस्थान करता है, परलोक गमन करने पर वैसे ही संकल्पों से युक्त होकर प्रकट होता है, वह मनोमय प्राण-देह वाले आकाश-स्वरूप आत्मा की उपासना करे। इसी वाजसनेयी शाखा के अन्तर्गत बृहदारण्यकोपनिषद् ५/६/१ में भी ऋषि ने कहा है कि 'प्रकाश ही जिसका सत्य स्वरूप है, ऐसा वह पुरुष मनोमय है। वह धान और जौ आदि की भाँति सूक्ष्म आकार वाला है। वह उस हृदयाकाश में अवस्थित है, वह सबका स्वामी व अधिष्ठाता है तथा यह जो भी कुछ है, सभी का श्रेष्ठ शासक है।' इस प्रकार से इन दोनों पुस्तकों में विवेचित इन विद्याओं

में भेद है या अभेद? यह आशंका उत्पन्न होने पर आचार्य बतलाते हैं कि जिस प्रकार भिन्न शाखाओं में ब्रह्मविद्या की समानता एवं उसके गुणों का उपसंहार ठीक माना गया है, वैसे ही एक शाखा में व्यक्त हुई विद्याओं में भी समानता माननी चाहिए; क्योंकि वहाँ पर उपास्य-इष्ट में अभेद है। दोनों स्थलों में एक ही ब्रह्म उपास्य बतलाया गया है॥१९॥

उपास्य के सन्दर्भ में किस जगह विद्या की एकता स्वीकार करनी चाहिए और किस जगह नहीं? इसका समाधान करने के लिए अब यहाँ अगले सूत्र में पूर्वपक्ष का मत प्रस्तुत किया जाता है—

(३८०) सम्बन्धादेवमन्यत्रापि॥२०॥

सूत्रार्थ— एवम् = इस प्रकार, सम्बन्धात् = उपास्य के सम्बन्ध से, अन्यत्र = अन्य स्थलों में, अपि = भी (क्या ब्रह्मविद्या की एकता मान लेनी चाहिए?)।

व्याख्या— अन्यत्र कई स्थलों में एक ही उपास्य-उपासक का सम्बन्ध दिखलाते हुए ब्रह्म विषयक विद्या का उल्लेख किया गया है। एक ऐसा ही वर्णन बृहदारण्यकोपनिषद् ५/५/१ में देखने को मिलता है- 'यह सर्वप्रथम बतलाया गया है कि सत्य ही ब्रह्म है, इत्यादि। पुन: इसी उपनिषद् के ५/५/२ में इसी सत्य की सूर्य मण्डल में अवस्थित पुरुष के साथ और आँख में स्थित पुरुष के साथ एकत्व स्थापित किया गया है। तत्पश्चात् दोनों का रहस्यमय नाम क्रमश: 'अहर्' और 'अहम्' कहा है। यहाँ इस कथानक में एक ही उपास्य का सम्बन्ध होने से भी स्थान भेद से पृथक्-पृथक् दो उपासना पद्धतियाँ कही गई हैं। अत: इनमें भेद मानें या अभेद?॥२०॥

उपर्युक्त सूत्र में व्यक्त की गई आशङ्का का समाधान सूत्रकार अगले सूत्र में दे रहे हैं—

(३८१) न वा विशेषात्॥२१॥

सूत्रार्थ— न वा = इन दोनों की एकता यहाँ सिद्ध नहीं होती, विशेषात् = क्योंकि इन दोनों पुरुषों के नाम एवं स्थान में भिन्नता है।

व्याख्या— उपर्युक्त सूत्र में वर्णित इन दोनों उपासनाओं के स्थान और नाम पूर्वपक्ष द्वारा अलग-अलग बतलाये गये हैं। सूर्य मण्डल के मध्य में अवस्थित सत् पुरुष का तो रहस्यात्मक नाम 'अहर्' कहा है तथा आँख में अवस्थित पुरुष का नाम 'अहम्' कहा गया है। इस तरह से नाम एवं स्थान की भिन्नता होने से इन वर्णित उपासनाओं की समानता नहीं स्वीकार की जा सकती है। अत: एक के नाम एवं गुणों का उपसंहार अन्य दूसरे पुरुष में नहीं करना चाहिए। इससे प्रमाणित होता है कि इन ब्रह्म-अध्यात्म विद्याओं में उपास्य एवं उपासना की एकता नहीं हो सकती॥२१॥

उपर्युक्त तथ्य को सूत्रकार अगले सूत्र में श्रुति के प्रमाण द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं—

(३८२) दर्शयति च॥२२॥

सूत्रार्थ— च = और, दर्शयति = श्रुति में (भी) यही देखा जाता है।

व्याख्या— जहाँ पर ऐसे नाम एवं स्थान की भिन्नता हो, वहाँ एक स्थल पर कहे हुए गुण अन्यत्र दूसरे स्थल पर नहीं लिये जाते; यह कथन श्रुति द्वारा इस प्रकार प्रतिपादित की गई है। छान्दोग्योपनिषद् १/७/५ में आधिदैविक साम के प्रसंग में सूर्य में स्थित पुरुष का वर्णन करके पुन: आध्यात्मिक साम के प्रसंग में आँख में स्थित पुरुष का विवेचन किया गया है। वहाँ पर सूर्य में स्थित पुरुष के नाम-रूप आदि का आँख में अवस्थित पुरुष में भी श्रुति ने स्वयमेव विधान करके दोनों की एकता स्थापित की है। इससे यह ज्ञात होता है कि ऐसी जगहों में विद्या की समानता मानकर एक के गुणों का दूसरी जगह उपसंहार करना सामान्य नियम नहीं है। जहाँ ब्रह्मविद्या की एकता मानकर गुणों का उपसंहार करना अभीष्ट होता है, उस सन्दर्भ में श्रुति स्वयं उसका नियम-विधान बना देती है, जैसे कि उक्त प्रसंग में सूर्य में अवस्थित

पुरुष के गुणों का नेत्र में स्थित पुरुष में नियम-विधान किया गया है ॥२२॥

सूर्यमण्डलवर्ती एवं नेत्रवर्ती आदि पुरुषों में ब्रह्म के कौन-कौन से गुणों का उपसंहार नहीं किया जा सकता? इसके निर्णय हेतु सूत्रकार अगले सूत्र में अपने विचार व्यक्त करते हैं—

(३८३) सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ॥२३॥

सूत्रार्थ— च = और, अत: = इस प्रकार विद्या की एकता न होने से, सम्भृतिद्युव्याप्ती = लोकों को धारण करना एवं द्युलोक आदि अखिल ब्रह्माण्ड को व्याप्त करके स्थित होना (ये दोनों ब्रह्म सम्बन्धी गुण), अपि = भी अन्यत्र (नेत्रान्तर्वर्ती आदि पुरुषों में) नहीं लेने चाहिए।

व्याख्या— परब्रह्म परमात्मा जगत् का कारण होने के साथ ही द्युलोकादि समस्त लोकों का पालनकर्त्ता और जड़-चेतनमय सम्पूर्ण विश्व में संव्याप्त है। ये गुण नेत्र में रहने वाले या सूर्य के मध्य में अवस्थित पुरुष के नहीं हो सकते। यहाँ अक्षर रूप ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए दो बातें प्रमुख रूप से कही गई हैं, उनमें प्रथम तो यह है कि वह द्युलोक से ऊपर और पृथिवी के नीचे तक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में संव्याप्त है और द्वितीय बात यह है कि वही समस्त प्राणियों को धारण करने वाला है। इन दोनों गुणों का नेत्रान्तर्वर्ती एवं सूर्यमण्डलवर्ती पुरुषों में उपसंहार नहीं हो सकता है; क्योंकि प्रतीक उपासना के लिए सीमित स्थलों में स्थित कहे हुए पुरुष न तो सर्वव्यापी होते हैं और न ही सभी को धारण करने वाले ही हो सकते हैं। ऐसे ही अन्य स्थलों में भी जहाँ पूर्ण परब्रह्म का उल्लेख नहीं है, उन प्रतीकों में इन गुणों का उपसंहार नहीं हो सकता है, ऐसा ही सम्यक् रूप से मान लेना चाहिए। ऊपर वर्णित विद्याओं की एकता का प्रमाणित न होना और इन गुणों का उन पुरुषों में न हो सकना,यह दोनों बातें उक्त पुरुषों में ब्रह्म के गुणों का उपसंहार न होना प्रमाणित करती हैं ॥२३॥

ऊपर वर्णित पुरुषों में ब्रह्म के गुणों में अध्याहार न हो, यह तो उचित है; किन्तु पुरुष विद्याओं में पुरुष के जो गुण कहे गये हैं, उनका अध्याहार तो दूसरी जगह-जहाँ-जहाँ पुरुषों का उल्लेख हो, वहाँ उन सबमें तो होना ही उचित है। इस प्रकार की आशंका का समाधान सूत्रकार अगले सूत्र में प्रस्तुत करते हैं—

(३८४) पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात् ॥२४॥

सूत्रार्थ— पुरुषविद्यायाम् = पुरुषविद्या में बतलाये हुए गुणों के, इव = समान, च = भी, इतरेषाम् = अन्य पुरुषों के (गुण) नहीं हो सकते, अनाम्नानात् = क्योंकि श्रुति ने वैसे गुण कहीं नहीं बतलाये हैं।

व्याख्या— पुरुष विद्या के प्रकरण में ब्रह्मरूप पुरुष के जो दिव्य गुण बतलाये गये हैं, उनका भी नेत्रान्तर्वर्ती एवं सूर्यमण्डलवर्ती आदि पुरुषों में और जहाँ-जहाँ स्थूल, सूक्ष्म या कारण शरीर का वर्णन पुरुष के नाम से किया गया है, उन पुरुषों में अध्याहार नहीं किया जा सकता है; क्योंकि श्रुति में कहीं भी उनके लिए वैसे गुणों का उल्लेख नहीं किया गया है। उन प्रकरणों में उन पुरुषों की आत्मा परम पुरुष को लक्ष्य कराने के लिए उन्हें पुरुष नाम से जाना गया है। मुण्डकोपनिषद् में २/१/१ से लेकर २/१/१० तक पुरुष नाम से जिस अक्षर रूप ब्रह्म का उल्लेख किया गया है, वहाँ सर्वप्रथम अक्षर ब्रह्म के द्वारा सभी की उत्पत्ति और पुन: उसी में सभी का लय होना कहा गया है। तदुपरान्त उसी को दिव्य अमूर्त पुरुष के नाम से संबोधित किया गया है और पुन: मु.उ. २/१/३ से २/१/९ तक उसी से समस्त प्राण, इन्द्रिय, पञ्चभूत, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वेद, देवता, मानव, अन्न, समुद्र और पर्वत आदि जगत् की उत्पत्ति कही गयी है। मु.उ. २/१/१० में उसे ही तप, कर्म और परम अमृतमय ब्रह्म के रूप में प्रतिपादित किया गया है। अत: इस प्रकार के श्रेष्ठ दिव्य गुण परब्रह्म के अतिरिक्त किसी सामान्य पुरुष के नहीं हो सकते ॥२८॥

अब आशंका यह होती है कि क्या ब्रह्म की उपासनाओं में वेध (बींधना) आदि गुणों का उपसंहार मान्य होना चाहिए या नहीं? सूत्रकार अगले सूत्र में इसी का समाधान दे रहे हैं—

(३८५) वेधाद्यर्थभेदात्॥२५॥

सूत्रार्थ— वेधादि = बींधना आदि गुणों का, अर्थभेदात् = अर्थ के भेद से उपसंहार नहीं होता।

व्याख्या— यहाँ सूत्र में सूत्रकार ने ब्रह्म को 'प्रणव' रूपी बाण से बींधने योग्य बतलाया है। मुण्डकोप. २/२/३ में इसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है- 'हे सोम्य! उपनिषद् में उल्लिखित प्रणव रूप महान् धनुष पर उपासना के द्वारा तीक्ष्ण किया हुआ बाण संधान करना चाहिए। तदुपरान्त भावनामय चित्त के द्वारा उस बाण को खींचकर परम अक्षर रूप ब्रह्म को ही लक्ष्य करके उसे बींध दो।' इस वर्णन के उपरान्त द्वितीय मन्त्र में आत्मा को ही बाण का रूप प्रदान किया गया है। इस तरह से यहाँ पर जो ब्रह्म को आत्मा रूप बाण द्वारा बींधने योग्य कहा है। उसके इस तरह से बींधने आदि गुणों का और ॐ कार रूप धनुर्भाव तथा आत्मा रूप बाण का भी जहाँ ॐकार से ब्रह्म की उपासना करने का वर्णन है, उन ब्रह्मविद्याओं में उपसंहार नहीं करना चाहिए, क्योंकि यहाँ पर चिन्तन-मनन में एकाग्रता का स्वरूप बतलाने के लिए तदनुकूल रूपक ग्रहण किया गया है। इस प्रकार रूपक की कल्पना द्वारा जो भी विशेष कथन कहा जाए, वे अन्य किसी प्रकरण में उपयुक्त न होने से ग्रहण करने योग्य नहीं हैं। यहाँ अर्थ के भेद द्वारा अन्य कोई कल्पना नहीं करनी चाहिए॥२५॥

अब अगले सूत्र में सूत्रकार 'ब्रह्मविद्या के फल में भेद है या नहीं' जिज्ञासा का समाधान करते हैं—

(३८६) हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्तदुक्तम्॥२६॥

सूत्रार्थ— हानौ = जिस श्रुति में दुःख, शोक, पुण्य, पाप आदि कर्मों के नष्ट होने का ही उल्लेख है उसमें, तु = तो, उपायनशब्दशेषत्वात् = लाभ रूप परमधाम की प्राप्ति आदि फल का भी अध्याहार कर लेना चाहिए; क्योंकि वह वाक्य का शेष भाग है, कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत् = यह कथन कुशा, छन्द, स्तुति और उपगान की भाँति समझना चाहिए, तदुक्तम् = ऐसा पूर्व में कहा जा चुका है।

व्याख्या— सूत्रकार कहते हैं कि श्रुतियों-उपनिषदों में यत्र-तत्र ब्रह्मविद्या का फल पुण्य, पाप और विविध प्रकार के विकारों का विनाश बताया गया है। उन मन्त्रों में ब्रह्म या अविनाशी पद की या फिर परमधाम की उपलब्धि नहीं कही गई है। अतः सूत्रकार संकेत करते हैं कि ऐसी जगहों में जहाँ मात्र दुःख, बन्धन एवं कर्मों के त्याग या विनाश की बातें कही गई हैं, उसके वाक्य शेष के रूप में अन्यत्र कहे हुए उपलब्धि रूप फल का भी अध्याहार कर लेना चाहिए। जहाँ पर केवल हानौ अर्थात् पाप, शोक, दुःख आदि का उल्लेख है, वहाँ-वहाँ ब्रह्मानन्द या ब्रह्मलोक आदि की उपलब्धि वाक्य शेष है तथा जहाँ केवल उपायन अर्थात् ब्रह्म धाम की उपलब्धि आदि का उल्लेख है, वहाँ ऊपर वर्णित हानौ (दुःख नाश आदि) ही वाक्य शेष है। अतः हर समान विद्या में उसका अध्याहार कर लेना चाहिए; ताकि किसी भी तरह का फल भेद न रहे।

वाक्य शेष ग्रहण करने के दृष्टान्त का हवाला देते हुए आचार्य कहते हैं कि - जैसे कौषीतकि शाखा वाले केवल वनस्पति की कुशा लेने को कहते हैं; किन्तु शाट्यायनी कुश के स्थान पर **'औदुम्बराः कुशाः'** अर्थात् गूलर के काठ की बनी कुशा लेने के लिए बोलते हैं। अतः उनका वह विशेष वचन कौषीतकि के वचन का वाक्य शेष माना जाता है और दोनों शाखा वाले उसे एकमत से स्वीकारते हैं। ऐसे ही एक शाखा वाले **'छन्दोभिः स्तुवीत'** अर्थात्- छन्दों द्वारा स्तुति करें, इस तरह समान भाव से कहते हैं, किन्तु पैङ्गी शाखा वाले- **'देवच्छंदासि'** अर्थात् 'देवों के छन्द पहले कहने चाहिए'। इस तरह से विशेषतया क्रम निश्चित कर देते हैं, तब उस क्रम को पूर्ण कथन का वाक्य शेष मानकर सभी स्वीकारते हैं। किसी शाखा में **'षोडशिनः स्तोत्र मुपाकरोति'** अर्थात् षोडशी का स्तवन करे, ऐसा वचन प्राप्त होता है; किन्तु तैत्तिरीय शाखा वाले इस कर्म को ऐसे क्षणों में अपना कर्त्तव्य कहते हैं, जैसे ब्रह्मवेला में तारे छिप गये हों और सूर्य का उदय न हुआ

हो। अत: यह काल विशेष का नियम पूर्व वर्णित वाक्य का शेष होकर सभी को स्वीकार होता है। एक अन्य शाखा वाले कहते हैं कि-'**ऋत्विज उपगायन्ति**' अर्थात् 'ऋत्विग्गण स्तोत्र का गायन करें।' किन्तु दूसरी शाखा वाले यह नियम बतलाते हैं कि '**नाध्वर्युरुपगायति**' अर्थात् अध्वर्यु को स्तोत्रगान नहीं करना चाहिए। अत: इसे भी वाक्य-शेष मानकर सभी स्वीकारते हैं कि अध्वर्यु को छोड़कर अन्य ऋत्विजों द्वारा स्तोत्रों का गायन होना चाहिए। इस प्रकार से उक्त सभी दृष्टान्तों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मनाश उपलब्धि रूप फल को भी वाक्य शेष के रूप में ही ग्रहण कर लेना ही सर्वथा उचित है ॥२६॥

अब जिज्ञासा होती है कि देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक में गमन करने वाले पुरुष के पाप कर्म विनष्ट हो जाते हैं, किन्तु पुण्यकर्म तो बचे रहते होंगे, नहीं तो फिर उसका ब्रह्मलोक में जाना कैसे सम्भव होगा ? क्योंकि ऊर्ध्वलोकों में गमन करना श्रेष्ठ कर्मों का ही फल है। अगले सूत्र में आचार्य इसे ही स्पष्ट करते हैं—

(३८७) साम्पराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये ॥२७॥

सूत्रार्थ— साम्पराये = ज्ञानियों के लिए परलोक गमन में, तर्तव्याभावात् = भोग द्वारा पार करने योग्य कोई कर्मफल नहीं बचता, इसलिए (उसके श्रेष्ठ कर्म भी यहाँ समाप्त हो जाते हैं) हि = क्योंकि, तथा = ऐसा ही, अन्ये = अन्य शाखा वाले भी मानते हैं।

व्याख्या— मोक्ष को प्राप्त हुए ज्ञानियों के समस्त श्रेष्ठ कर्म विनष्ट हो जाते हैं, ऐसा श्रुतियों से ज्ञात होता है। बृहदारण्यकोपनिषद् ४/४/२२ में यह कथन स्पष्ट रूप से वर्णित है- '**उभे उ हैवैष एते तरति**' अर्थात् 'निश्चित ही ज्ञानी पाप और पुण्य दोनों को यहीं पार कर जाता है।' इस दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञानी पुरुष देह का परित्याग करने के पश्चात् शुभ-अशुभ हर तरह के कर्मों से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। उसे (प्राणी को) जिस नित्यधाम (ब्रह्मलोक) की प्राप्ति होती है, वह किसी कर्म के फल रूप में नहीं; वरन् ब्रह्मज्ञान की शक्ति से मिल जाता है। अत: उसके लिए परलोक में जाकर भोग के द्वारा पार करने लायक कोई भी कर्मफल अवशेष नहीं बचता; इस कारण भी उसके समस्त पुण्य कर्म यहीं पर ही पूर्ण (समाप्त) हो जाते हैं। मुण्डकोपनिषद् ३/१/३ में भी इस तथ्य का समर्थन करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि ज्ञानी के संचित सभी कर्मों का पूर्णरूपेण विनाश हो जाता है, यह वर्णन इस प्रकार है- 'उस समय ज्ञानी पुण्य और पाप दोनों को अपने से अलग हटाकर मलरहित हो सर्वश्रेष्ठ साम्य रूप ब्रह्म को पा लेता है।' इस प्रकार उक्त उद्धरणों से सिद्ध हो जाता है कि परलोक में गमन करते समय भोग के द्वारा पाप कराने वाला कोई भी कर्मफल शेष नहीं बचता ॥२७॥

अब आशंका होती है कि जब 'सभी कर्मों का विनाश एवं परब्रह्म की प्राप्ति रूप फल तो ब्रह्म-ज्ञान से यहीं तुरन्त मिल जाता है, तो फिर देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक में जाकर ब्रह्म को पाने की बात क्यों कही गई ? सूत्रकार इसी सन्दर्भ में कहते हैं—

(३८८) छन्दत उभयथाविरोधात् ॥२८॥

सूत्रार्थ— छन्दत: = मुमुक्षु पुरुषों के सङ्कल्पानुसार, उभयथा = दोनों तरह की गति का (भी), अविरोधात् = श्रुति में विरोध नहीं है, (अत: ब्रह्मलोक गमन का विधान है)।

व्याख्या— मुमुक्षु पुरुष जिस तरह का संकल्प अपनाता है, उसी तरह की गति उसे मिलती है। छान्दोग्योपनिषद् (३/१४/१) में वर्णन है कि '**अथ खलु क्रतुमय: पुरुषो यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेत: प्रेत्य भवति**' अर्थात् अवश्य ही यह पुरुष श्रेष्ठ संकल्पों वाला है। इस लोक में पुरुष जैसे संकल्पों से युक्त होता है, वैसे ही शरीर त्यागने के बाद यहाँ से परलोक गमन पर भी होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जो ज्ञानीजन किसी लोक में गमन करने की आकांक्षा न करके यहीं पर मुक्त होने का संकल्प रखता है, ब्रह्मज्ञान हेतु साधन

में संलग्न होते समय भी जिसकी ऐसी ही प्रबल भावना बनी रहती है, वह ज्ञानी तो तत्क्षण यहीं ब्रह्म-सायुज्य को पा जाता है, किन्तु जो ब्रह्मलोक-दर्शन की इच्छा लेकर साधन में सन्नद्ध हुआ था और जिसका वहाँ जाने का संकल्प है, वह देवयान मार्ग से वहाँ जाकर ही ब्रह्म को पाता है। इस प्रकार से यह सिद्ध होता है कि दोनों तरह की गति होना शास्त्र-सम्मत है, अत: इन्हें मान लेने में किसी भी तरह का कोई विरोध नहीं है॥२८॥

यदि ब्रह्मलोक में गमन किये बिना यहाँ ही ब्रह्म को प्राप्त हो जाना मान लें, तो क्या आपत्ति है? इसी का समाधान अगले सूत्र में किया जा रहा है—

(३८९) गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः॥२९॥

सूत्रार्थ— गते: =गतिबोधक श्रुति की, अर्थवत्त्वम् = सार्थकता, उभयथा = दोनों प्रकार से ब्रह्म की प्राप्ति मानने पर ही होगी; हि = क्योंकि, अन्यथा = इससे अन्य-अलग मानें तो, विरोध: = श्रुति में विरोध उत्पन्न होगा।

व्याख्या— मुमुक्षु-साधक की गति संकल्पानुसार मान लेने पर मुक्ति के दोनों भेद मान्य हैं। प्रथम तो यह कि साधक ब्रह्मदर्शन की लालसा से साधना में संलग्न हो, तो वह कर्म का परित्याग करके परलोक गमन करेगा तथा ब्रह्म दर्शन की कामना के सिवाय मात्र मुक्ति की कामना करे, तो उस साधक को मृत्यूपरान्त तत्क्षण मुक्ति की प्राप्ति हो सकेगी। यदि ऐसा न माना जाये, तो दोनों प्रकार से वर्णन करने वाली श्रुतियों में विरोध का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। अत: यही मानना उचित होगा कि साधक के संकल्पानुसार दोनों तरह से ब्रह्म की प्राप्ति होना संभव हो सकती है। ऐसा मान लेने से ही देवयान-मार्ग से गति का उल्लेख करने वाली श्रुति की सार्थकता होगी और श्रुतियों का आपस में विरोध भी दूर हो जायेगा॥२९॥

अगले सूत्र में सूत्रकार पुन: उपर्युक्त कथन को सिद्ध करते हैं—

(३९०) उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत्॥३०॥

सूत्रार्थ— तल्लक्षणार्थोपलब्धे: = उस देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक गमन के अनुकूल सूक्ष्म शरीरादि की उपलब्धि का कथन होने से, उपपन्न: = उनके लिए दोनों प्रकार की गति संभव है, लोकवत् = लोक में ऐसा ही देखने को मिलता है।

व्याख्या— जहाँ श्रुतियों में साधक के लिए देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक में गमन करने की बात बताई गई है, वहीं पर उस प्रकरण में उसके उपयोगी उपकरणों का भी उल्लेख मिलता है। प्रश्नोपनिषद् ३/१० में वर्णन आता है कि 'जीवात्मा जिस संकल्प वाला होता है, उस संकल्प से साधक मुख्य प्राण में अवस्थित हो जाता है। मुख्य प्राण उदान वायु में स्थित होकर मन-इन्द्रियों के सहित जीवात्मा को संकल्पगत लोक में ले जाता है।' बृहदारण्यकोपनिषद् ४/४/६ में एक अन्य तरह की गति का उल्लेख इस प्रकार मिलता है- 'जो अकाम, निष्काम, पूर्णकाम और केवल परमात्मा को ही चाहने वाला है, उसके प्राण ऊर्ध्व लोकों में नहीं जाते। वह ब्रह्ममय होकर ही यहीं ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है अर्थात् ब्रह्ममय हो जाता है।' उक्त दोनों उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि साधक की संकल्प शक्ति से दोनों तरह की गति से ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। लोक मान्यता है कि जिसे अपने स्थान से कहीं अन्यत्र गमन करना होता है, तो उसे अपने साथ यात्रा के समय आवश्यक साधन-सामग्री भी लेनी पड़ती है। वैसे ही उपयुक्त साधक योगी पुरुष के लिए ब्रह्मलोक गमन हेतु दिव्य-सूक्ष्म शरीर भी आवश्यक है। अत: साधक का इस लोक से ब्रह्मलोक गमन का श्रुति कथन युक्तिसंगत मानना ही उचित है॥३०॥

अब आशङ्का उठती है कि 'ब्रह्मलोक में जाने वाले सभी ब्रह्मज्ञ देवयान-मार्ग से ही जाते हैं या जहाँ-जहाँ विद्याओं के वर्णन में देवयान मार्ग का उल्लेख है, उन्हीं के अनुसार साधक उस मार्ग से जाते हैं? अगले सूत्र में आचार्य इसी का समाधान दे रहे हैं—

(३९१) अनियमः सर्वेषामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ॥३१ ॥

सूत्रार्थ— अनियमः = उन विद्याओं के अनुसार उपासना करने वालों को ही देवयान मार्ग से जाने का ऐसा कोई नियम नहीं है, सर्वेषाम् = किन्तु ब्रह्मलोक में गमन करने वाले सभी साधकों की गति उसी मार्ग से होती है, शब्दानुमानाभ्याम् = यही तथ्य शब्द अर्थात् श्रुति और अनुमान अर्थात् स्मृतियों दोनों तरह से मान्य है, अविरोधः = अतः इसमें कोई विरोध नहीं है।

व्याख्या— साधना करने वाले योगी साधकों को भिन्न-भिन्न सिद्धियों के द्वारा ब्रह्मलोक तथा परमधाम की प्राप्ति श्रुतियों में जगह-जगह पर कही गई है, परन्तु उन सब में देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक पहुँचने की बात का उल्लेख नहीं मिलता। ऐसे ही गीता आदि स्मृतियों में भी सर्वत्र उस मार्ग का उल्लेख नहीं किया गया है। इससे यह नहीं मान लेना चाहिए कि जहाँ पर देवयान मार्ग का उल्लेख नहीं किया गया है, वहाँ उस साधना द्वारा बिना देवयान मार्ग के सीधे ही ब्रह्मलोक गमन का नियम है; किन्तु बात ऐसी नहीं है। फल प्राप्ति रूप ब्रह्मलोक प्रस्थान हेतु सभी तरह की साधनाओं में देवयान मार्ग से ही पहुँचा जा सकता है। ऐसा मान लेने से श्रुति के कथन में किसी भी तरह का विरोध नहीं होगा। यहाँ पर यह भी ध्यातव्य है कि जो यहीं परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं, वे ब्रह्मलोक में नहीं गमन करते। सूत्रकार कहते हैं कि श्रुति एवं स्मृति (शब्द और अनुमान) दोनों से ही इसका विरोध न होने से यही समीचीन है ॥३१ ॥

वशिष्ठ एवं व्यास आदि जो विशिष्ट अधिकार प्राप्त महान पुरुष हैं, उन सभी की अर्चिमार्ग से गति होती है या फिर वे इसी देह से ब्रह्मलोक गमन कर सकते हैं ? इसका समाधान आचार्य अगले सूत्र में देते हैं—

(३९२) यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥३२ ॥

सूत्रार्थ- आधिकारिकाणाम् = जो मोक्ष के अधिकार-प्राप्त हुए महान् पुरुष हैं, उनकी, यावदधिकारम् = जब तक अधिकार की समाप्ति नहीं होती तब तक, अवस्थितिः = अपनी इच्छानुसार स्थिति बनी रहती है।

व्याख्या- जो मोक्ष के अधिकार को प्राप्त हुए महान् पुरुष हैं, वे व्यास, वशिष्ठ आदि महान् अधिकारी पुरुष परम पिता की आज्ञानुसार ही जगत् का भला करने हेतु आते हैं। उन महान् पुरुषों का न तो सामान्य जीवों की भाँति आना-जाना होता है और न ही उनकी जन्म व मृत्यु ही होती है। उनकी सभी क्रियाएँ सामान्य लोगों से विलक्षण और दिव्य होती हैं। वे इच्छानुसार देह त्यागने व नवीन देह पाने में समर्थ होते हैं, अतः उनके लिए अर्चि आदि मार्गों की आवश्यकता नहीं पड़ती। जब तक उनका अधिकार रहता है, तभी तक वे इस संसार में इच्छानुसार सभी लोकों में सहजता से आ-जा सकते हैं और अन्त में परब्रह्म में अपने को विलीन कर लेते हैं। अतः अन्य योगी साधक उनकी भाँति अपने को नहीं बना सकते। वे इस जगत् में ही अमुक्त अवस्था में सभी तरह के भोगों को भोगते रह सकते हैं ॥३२ ॥

अब सूत्रकार यहाँ से ब्रह्म और जीवात्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों पर विचार करने हेतु नया प्रकरण प्रारम्भ करते हैं—

(३९३) अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम् ॥३३ ॥

सूत्रार्थ- अक्षरधियाम् = अक्षर अर्थात् ब्रह्म के निर्गुण-निराकार अविनाशी लक्षणों का, तु = तो, अवरोधः = सर्वत्र अध्याहार करना (चाहिए) क्योंकि; सामान्यतद्भावाभ्याम् = ब्रह्म के सभी लक्षण समान होने से उसी के स्वरूप को बतलाने वाले हैं; औपसदवत् = इसलिए 'उपसत्' कर्म सम्बन्धी मन्त्रों के सदृश, तदुक्तम् = उनका अध्याहार (उपसंहार) कर लेना ही ठीक है, यही बतलाया गया है—

व्याख्या- बृह.उ. ३/८/८ में ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन ऋषि इस प्रकार करते हैं- याज्ञवल्क्य जी कहते

हैं कि 'हे गार्गि! जिसे तुम पूछती हो, उस अविनाशी तत्त्व को ब्रह्मज्ञजन अक्षर अर्थात् निराकार-अविनाशी ब्रह्म कहते हैं। वह न छोटा है, न बड़ा, न मोटा है, न पतला है।' यहाँ पर ब्रह्म को इन सभी पदार्थों, इन्द्रियों और देहधारी प्राणियों से अत्यन्त विलक्षण बताया गया है। इसी तरह मुण्डक उपनिषद् १/१/५,६ में भी वर्णन मिलता है, देखें- 'अंगिरा ऋषि शौनक जी से कहते हैं- 'वह पराविद्या है, जिससे उस अक्षर रूप ब्रह्म की प्राप्ति होती है, जो समझने और पकड़ने से परे है; जो गोत्र, वर्ण, नेत्र, कर्ण, हाथ, पैर आदि से विहीन है; परन्तु सर्वव्यापी, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, अविनाशी एवं सभी प्राणियों का एक मात्र कारण है, उसे ज्ञानीजन सभी तरफ से देखते हैं।' इस प्रकार श्रुति में उस अक्षर रूपी ब्रह्म के जो विशेषण कहे गये हैं, उन्हें ब्रह्म के उल्लेख में सर्वत्र मान लेना चाहिए; क्योंकि ब्रह्म के साकार और निराकार सभी विशेषण समान हैं और सभी उस ब्रह्म के ही भाव हैं। उस ब्रह्म के स्वरूप का लक्ष्य बोध कराने के लिए ही कहे हुए भाव हैं; अत: 'उपसत्' कर्मवत् मंत्रों के सदृश उनका अध्याहार कर लेना ही ठीक है। यही बात युक्तिसंगत प्रतीत होती है॥३३॥

मुण्डकोपनिषद् (३/१/१) एवं श्वेता. उ. (४/६) में पक्षी के उदाहरण द्वारा ईश्वर और जीवात्मा को मानव के हृदय में अवस्थित कहा गया है। इसके साथ ही कठ.उप. में छाया और धूप के सदृश ईश्वर और जीव को व्यक्ति के हृदय में अवस्थित कहा है। इन श्रुतियों में जिस ब्रह्मविद्या या विज्ञान का उल्लेख किया गया है, वह एक दूसरे से भिन्न है या अभिन्न ? सूत्रकार अगले सूत्र में इसी का समाधान दे रहे हैं—

(३९४) इयदामननात्॥३४॥

सूत्रार्थ— (ऊपर टिप्पणी में तीनों श्रुति मन्त्रों में एक ही ब्रह्मविद्या का उल्लेख मिलता है) इयदामननात् = क्योंकि सर्वत्र इयत्ता (अर्थात् इतनापन) का वर्णन समान है।

व्याख्या—मुण्डक श्रुति (१/३/७) में कहा गया है- 'एक साथ रहते हुए परस्पर मित्रभाव रखने वाले दो पक्षी-जीव और ब्रह्म एक ही देह रूपी वृक्ष का आश्रय ग्रहण कर रहते हैं, उन दोनों में से एक तो कर्मफल रूपी सुख-दु:खों का उपभोग करता है और दूसरा न उपयोग करता हुआ मात्र अवलोकन करता है। इसी प्रकार श्वेता. १/२/२२ में भी देखें- 'यह जीव देह की आसक्ति में रत रहकर असमर्थता के कारण मोहित होकर चिन्ता करता रहता है। यदि यह भक्तों से सेवित अपने पास रहने वाले सखा परब्रह्म को और उसकी विचित्र महिमा को देख ले, तो तत्क्षण ही शोक से मुक्त हो जाये। ऐसे ही कठ.उप. १/३/१ में ऋषि कहते हैं कि मानव देह में परब्रह्म के श्रेष्ठ वासस्थल हृदय रूपी गुहा में छिपे हुए और अपने सत्यस्वरूप का साक्षात् करने वाले (जीव और ब्रह्म) दोनों ही हैं, जो कि छाया और धूप के सदृश भिन्न प्रकृति वाले हैं। उक्त तीनों मन्त्रों में द्विवचनान्त शब्दों का प्रयोग करके जीव और ब्रह्म को हृदय में स्थित कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि तीनों मन्त्रों में विवेचित ब्रह्मविद्या एक ही है। ऐसे ही यत्र-तत्र उस अविनाशी ब्रह्म को प्राणियों के हृदय में स्थित बतलाया गया है, उन सभी स्थलों में विवेचित विद्या की भी एकता माननी चाहिए॥३४॥

अब अगले सूत्र में सूत्रकार परब्रह्म को सर्वान्तर्यामी कहने वाली श्रुतियों पर विचार करते हैं—

(३९५) अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मन:॥३५॥

सूत्रार्थ— भूतग्रामवत् = भूत-समूह के समान (वह परब्रह्म), स्वात्मन: = साधक का अपनी आत्मा का भी, अन्तरा = अन्तरात्मा (वह ब्रह्म अन्तर्यामी है, क्योंकि यही बात अन्य श्रुति-मन्त्रों में बतलायी गई है)।

व्याख्या— परब्रह्म के सर्वान्तर्यामी होने का वर्णन बृहदारण्यकोपनिषद् ३/४/१-२ में राजा जनक की चक्रायणक पुत्र उषस्त और याज्ञवल्क्य संवाद में इस प्रकार मिलता है- 'उषस्त के पूछने पर याज्ञवल्क्य जी कहते हैं कि जो तुम्हारी अन्तरात्मा है, वही समस्त प्राणियों की है।' पुन: जिज्ञासा करने पर ऋषि कहते हैं कि

'जो प्राण के द्वारा सबको प्राण क्रिया सम्पन्न करता है।' तदुपरान्त उषस्त के पुन: पूछने पर कहा कि 'दृष्टि के द्रष्टा को देखा नहीं जा सकता, श्रुति-मन्त्र के श्रोता को सुना नहीं जा सकता, मति के मन्ता का मनन नहीं हो सकता, विज्ञाति के विज्ञाता को ज्ञात नहीं किया जा सकता, यह तुम्हारी अन्तरात्मा ही सबकी अन्तरात्मा है। बृ.उ. ३/५/१ में कहोल नामक ऋषि के पूछने पर भी याज्ञवल्कय जी बतलाते हैं-' जो तेरी अन्तरात्मा है, वही सबकी अन्तरात्मा है। जो भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा और मरण सभी से अतीत है, वही अन्तरात्मा है।

अब प्रश्न यह उठता है कि उक्त दोनों दृष्टान्तों में जिसे अन्तरात्मा कहा गया है, वह जीव है या ब्रह्म है? यदि ब्रह्म है, तो कैसे? इसका समाधान सूत्रकार इस प्रकार देते हैं 'जैसे भूत समूह में पृथिवी की अन्तरात्मा जल है, जल का तेज, तेज का वायु और वायु का भी आकाश है। अत: सभी की अन्तरात्मा आकाश है। वैसे ही सभी जड़-तत्त्वों की अन्तरात्मा जीवात्मा है तथा जो अपने आपकी भी अन्तरात्मा है, वही सभी प्राणियों की अन्तरात्मा है, यही श्रुति में कहा गया है। बृह.उ. के सातवें ब्राह्मण में उद्दालक-याज्ञवल्क्य संवाद में भी वर्णन आता है, उस परब्रह्म को पृथिवी आदि सभी भूत समूहों का अन्तर्यामी कहते हुए अन्त में विज्ञानात्मा अर्थात् जीव का भी अन्तर्यामी उसी अन्तरात्मा को बताया है और प्रत्येक वाक्य के अन्त में कहा है कि यही तेरा अन्तर्यामी अमृतमय आत्मा है। श्वेता. उ. ६/११ में भी ऐसा ही उल्लेख किया गया है, समस्त भूतों में छिपा हुआ वह एक देव ही सर्वव्यापी एवं समस्त प्राणियों की अन्तरात्मा है। वही सभी के कर्मों का अधिष्ठाता, सभी का निवासस्थल, साक्षी, सर्वथा विशुद्ध एवं गुणों से परे है। इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि सबकी अन्तरात्मा वह परब्रह्म परमात्मा ही है, जीव नहीं॥३५॥

अगले सूत्र में आचार्य उक्त प्रकरण में कही हुई बात में आशङ्का उत्पन्न करके समाधान प्रस्तुत करते हैं—

(३९६) अन्यथाभेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत्॥३६॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि यह कहो कि, अन्यथा = अन्य प्रकार से, अभेदानुपपत्ति: = अभेद की सिद्धि नहीं होगी, अत: (ऊपर कहे हुए प्रकरण में जीव और ब्रह्म का अभेद मानना ही ठीक है), इति न = तो यह उचित नहीं; उपदेशान्तरवत् = क्योंकि दूसरे उपदेश की तरह से अभेद की सिद्धि हो जायेगी।

व्याख्या— यदि यह कहो कि उपर्युक्त वर्णन के अनुसार जीव और ब्रह्म के भेद को उपाधिकृत न मानकर यथार्थत: मान लें, तो अभेद का होना सिद्ध नहीं होगा; किन्तु ऐसा मानना उचित नहीं होगा; क्योंकि अन्यत्र के उपदेश की तरह उपदेश कहने से यहाँ भी अभेद सिद्ध हो जायेगा अर्थात् जैसे अन्यत्र कार्य-कारण भाव के अभिप्राय से परब्रह्म परमात्मा की जड़-प्रपञ्च एवं जीव के साथ एकत्व स्थापित करके उपदेश किया गया है, वैसे ही प्रत्येक स्थल में अभेद सिद्ध हो जायेगा। छा.उ. (६/८/१ से ६/१६/३ तक) में सद्विद्या के प्रकरण में श्वेतकेतु को उनके पिता ने मिट्टी, लोहा और स्वर्ण के अंश से कार्य-कारण की एकता बतलायी है। तदुपरान्त नौ बार अलग-अलग उद्धरण देकर हर एक के अन्त में यह बात कही है कि यह जो अणिका यानी अति सूक्ष्म ब्रह्म है; इसी का रूप यह सम्पूर्ण जगत् है, वही सत्य है, वही आत्मा है एवं वह तू अर्थात् कार्य और कारण के सदृश तेरी और उसकी एकता है। वैसे ही सर्वत्र जानना चाहिए॥३६॥

यदि जीव और ब्रह्म का उपाधिकृत भेद और यथार्थ अभेद मान लें, तो क्या आपत्ति है? इसी आशङ्का का सूत्रकार अगले सूत्र में समाधान प्रस्तुत करते हैं—

(३९७) व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत्॥३७॥

सूत्रार्थ— व्यतिहार: = परस्पर व्यत्यय (एक-रूपता) करके अभेद का वर्णन है; अत: उपाधिकृत भेद स्पष्ट

नहीं होता, हि = क्योंकि, इतरवत् = अन्य श्रुतियों के समान सभी श्रुतियाँ, विशिंषन्ति = विशेषता बतलाकर वर्णन करती हैं।

व्याख्या— एक दूसरे के धर्मों की परस्पर एकरूपता की प्रतीति होना ही व्यतिहार है। जब उपासक उपासना करते-करते उपास्य के साथ अपनी एकरूपता का अनुभव करने लगता है, तब उस अवस्था को उपासना की चरम स्थिति माननी चाहिए। इसी को ब्रह्म साक्षात्कार कहते हैं। उपासक द्वारा ब्रह्मानन्द की अनुभूति उपासक की उपास्य के साथ एकरूपता की प्रतीति है। ऐसी स्थिति आ जाने पर उपासना का लक्ष्य पूर्ण हो जाता है। ऐतरेय आरण्यक २/२/४/६ में इसका उल्लेख इस प्रकार है **'योऽहं सोऽसौ, योऽसौ, सोऽहम्'** अर्थात् जो मैं हूँ, वह- वह है; जो वह है, वह मैं हूँ। उपासना की चरमावस्था को प्राप्त कर लेने पर उपासक की आत्मा इस प्रकार ब्रह्म के साथ एकरूपता की अनुभूति करता है। ब्रह्म आनन्द स्वरूप है, उपासना की चरमावस्था पर वह अपने आपको उपासक के लिए प्रकट कर देता है। मुण्डको. ३/२/३-४ में इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है- तब उस अवस्था में आत्मा उस आनन्द सागर में तल्लीन रहता है, अतः उपासना की उत्कर्ष स्थिति व्यतिहार अर्थात् एक दूसरे (उपास्य-उपासक) की एकरूपता की अनुभूति होना है। इस प्रकार से यहाँ पर यही मानना चाहिए कि जीव और ब्रह्म की भिन्नता न मानने के लिए ऐसा बतलाया गया है। यदि यहाँ उपाधिकृत भेद बताया गया होता, तो ऐसा वर्णन नहीं होता॥३७॥

अगले सूत्र में आचार्य पुनः प्रकारान्तर से औपाधिक भेद की मान्यता का निस्तारण प्रस्तुत करते हैं—

(३९८) सैव हि सत्यादयः॥३८॥

सूत्रार्थ— सा = वह, एव = ही , हि = क्योंकि, सत्यादयः = (ब्रह्म के) सत्य-संकल्प आदि लक्षण (जीव के नहीं हो सकते)।

व्याख्या— जिस प्रकार उपर्युक्त सूत्र में यह अनुपपत्ति बतलायी गई है कि जीव और ब्रह्म में सर्वाधिक अभेद होने से श्रुति के व्यतिहार-वाक्य से दोनों (जीव और ब्रह्म) का एकत्व स्थापन सुसंगत नहीं हो सकता, उसी प्रकार की अनुपपत्ति इस सूत्र में भी प्रकारान्तर से प्रकट की जाती है। सूत्रकार का कथन है कि परब्रह्म के स्वरूप का जहाँ वर्णन किया गया है, वहाँ उसे सत्यकाम, सर्वज्ञ, सत्यसङ्कल्प, अविनाशी, अजर-अमर सबका परम कारण और सर्वाधार आदि कहा गया है। ये समस्त विशेषण परब्रह्म के अतिरिक्त जीव आदि किसी में नहीं हो सकते। जीवात्मा में इनका पूरी तरह से होना असंभव है। जब जीव और ब्रह्म दोनों में धर्म की एकरूपता नहीं है, तब उनका अत्यन्त अभेद किस तरह सिद्ध हो सकता है। अतः परब्रह्म और जीव का भेद उपाधिकृत है, ऐसा मानना सङ्गत नहीं है॥३८॥

यदि यह कहें कि 'परब्रह्म में जो सत्यसंकल्पत्व' आदि दिव्य गुण श्रुति द्वारा कहे गये हैं, वे सहज नहीं है; परन्तु वे उपाधि के सम्बन्ध से हैं; यथार्थतः ब्रह्म का स्वरूप तो निर्विशेष है। इसलिए इन दिव्य गुणों को लेकर जीव से उसकी पृथक्ता नहीं कही जा सकती है, तो यह कथन उचित नहीं है। आचार्य अगले सूत्र में इसी का समाधान दे रहे हैं—

(३९९) कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः॥३९॥

सूत्रार्थ— इतरत्र = (उस ब्रह्म के) अन्यत्र (कहे गये), कामादि = सत्यसंकल्पादि दिव्य गुण, तत्र च = जहाँ निर्विशेष स्वरूप का वर्णन है, वहाँ भी हैं, आयतनादिभ्यः = क्योंकि वहाँ उसके सर्वाधार आदि गुणों का उल्लेख मिलता है।

व्याख्या— उस अविनाशी ब्रह्म के जो सत्यसंकल्पत्वादि दिव्य गुण (धर्म) विभिन्न श्रुतियों में कहे गये हैं, वे सभी जहाँ निर्विशेष ब्रह्म का उल्लेख है, वहाँ भी हैं; क्योंकि निर्विशेष स्वरूप का वर्णन करने वाली श्रुतियों में

भी ब्रह्म के सर्वाधार आदि सविशेष दिव्य गुणों का उल्लेख मिलता है। अत: वैसे अन्य गुणों का भी वहाँ उपसंहार (अध्याहार) कर लेना ठीक है। बृहदारण्यकोपनिषद् (३/८/८-९) के गार्गी-याज्ञवल्क्य संवाद में उस अविनाशी परम अक्षर रूप परब्रह्म का वर्णन इस प्रकार मिलता है- 'सर्वप्रथम' वहाँ 'अस्थूलमनणु' अर्थात् 'न स्थूल और न ही सूक्ष्म है' इत्यादि प्रकार से निर्विशेष स्वरूप के धर्मों का उल्लेख के पश्चात् कहा है कि 'इस अक्षर के ही प्रशासन में सूर्य, चन्द्र, द्युलोक, पृथ्वी आदि स्थित हैं।' याज्ञवल्क्य जी ने यहाँ उस अक्षर रूप ब्रह्म को सम्पूर्ण जगत् का आश्रय कहा है। ऐसे ही मु.उ.१/१/६ में भी उल्लेख मिलता है- जानने में न आने वाला, पकड़ने में न आने वाला आदि निर्विशेष स्वरूप के गुणों का उल्लेख करने के बाद उसे नित्य, सर्वगत, विभु, सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं सभी भूतों का कारण कहकर उसे सविशेष गुणों से युक्त भी बतलाया गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'वह परब्रह्म दोनों तरह के गुणों (लक्षणों) वाला है। अत: अन्यत्र कहे हुए सत्यसंकल्पत्वादि जितने भी ब्रह्म के दिव्य गुण (धर्म) हैं, वे उनमें सहज ही हैं, उपाधिकृत नहीं। इस कारण जहाँ जिन गुणों का उल्लेख नहीं है, वहाँ उनका उपसंहार (अध्याहार) कर लेना ठीक है। इस तरह से जीव और ब्रह्म में समान गुण (लक्षण) न होने से उनमें कभी भी अभेद नहीं मानना चाहिए॥३९॥

यदि जीव और ब्रह्म का भेद उपाधिकृत नहीं माना जायेगा, तो फिर अन्य द्रष्टाओं की सत्ता सिद्ध हो जायेगी। ऐसी स्थिति में श्रुति द्वारा जो यह वर्णन मिलता है कि 'इससे अन्य कोई द्रष्टा नहीं है' आदि उसकी व्यवस्था किस तरह होगी ? इसी का समाधान दिया जा रहा है—

(४००) आदरादलोपः ॥ ४० ॥

सूत्रार्थ— आदरात् = उक्त कथन परब्रह्म के प्रति आदरपूर्वक होने से, अलोपः = उसमें अन्य द्रष्टा का लोप (निषेध) नहीं हुआ है।

व्याख्या— उस परब्रह्म को सर्वोत्कृष्ट सिद्ध करने के लिए वहाँ आदर की दृष्टि से दूसरे-अन्य द्रष्टा का निषेध किया गया है, सो ऐसी बात नहीं है। सूत्रकार कहते हैं कि इसका अभिप्राय यह है कि वह सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म ऐसा द्रष्टा है, ऐसा श्रेष्ठ ज्ञाता है कि उसकी तुलना में दूसरे-अन्य सभी जीव द्रष्टा होते हुए भी न होने के समान हैं; क्योंकि ब्रह्म पूर्ण द्रष्टा है और जीव अपूर्ण है। सृष्टि के प्रलयकाल में जड़-तत्त्वों के सदृश जीवों-प्राणियों को किसी भी तरह का विशेष ज्ञान नहीं रह जाता, उनके सभी दिव्य गुणों-धर्मों का ब्रह्म में लय हो जाता है और स्थिति के समय भी उनके सभी गुण-धर्म और कार्य ब्रह्म के प्रकाश से प्रकाशित होने से सीमित ही समझना चाहिए। वर्तमान समय में भी जो प्राणियों का जानना, देखना, श्रवण करना आदि है, वह सीमित ही है और उस ब्रह्म के ही प्रकाश से है। ऐ.उ.(१/३/११) और प्र.उ. (४/९) में संकेत मिलता है कि वही ब्रह्म ही इसका प्रेरक है, अत: यह (जीव) स्वतन्त्र नहीं है। इससे यही स्पष्ट होता है कि श्रुति का वह कथन ब्रह्म की उत्कृष्टता प्रदर्शित करने के लिए है, यथार्थतः अन्य द्रष्टा का निषेध करने के लिए नहीं है। यहाँ द्रष्टा का लोप नहीं; बल्कि परब्रह्म की उत्कृष्टता का ही प्रतिपादन किया गया है।॥४०॥

उपर्युक्त सूत्र से व्यक्त हुआ कथन परब्रह्म के प्रति आदर ज्ञापित करने के लिए है। पुनः उक्त तथ्य को प्रकारान्तर से आचार्य अगले सूत्र में सिद्ध करते हैं—

(४०१) उपस्थितेऽतस्तद्वचनात्॥४१॥

सूत्रार्थ— उपस्थिते = उपर्युक्त कथन से किसी प्रकार अन्य चेतन का निषेध उपस्थित होने पर भी, अत: = इस ब्रह्म की अपेक्षा दूसरे द्रष्टा का निषेध बतलाने के कारण वह कथन आदर सूचक ही है, तद्वचनात् = क्योंकि उन वाक्यों के साथ बारम्बार 'अत:' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है।

व्याख्या— बृहदारण्यकोपनिषद् ३/७/२३ के अन्तर्गत जहाँ उस परब्रह्म के अतिरिक्त अन्य द्रष्टा, श्रोता आदि

का निषेध किया गया है, वहाँ उस वर्णन में बारम्बार 'अत:' भी प्रयुक्त हुआ है। इससे यही सिद्ध होता है कि इसकी अपेक्षा अथवा इससे ज्यादा अन्य कोई द्रष्टा, श्रोता नहीं है। यदि द्रष्टा का सर्वथा निषेध करना अभीष्ट होता, तो फिर 'अत:' शब्द की आवश्यकता नहीं पड़ती। जैसे यह कहें, इससे अन्य कोई धार्मिक नहीं है, तो इस वाक्यांश से अन्य धार्मिकों से उसकी उत्कृष्टता बतलाना ही उचित है, न कि अन्य समस्त धार्मिकों का अभाव बतलाना। वैसे ही वहाँ जो यह कहा गया है कि 'इस परब्रह्म से अन्य और कोई द्रष्टा आदि नहीं है' उस वाक्यांश का भी यही अभिप्राय है कि इससे ज्यादा कोई अन्य द्रष्टापन आदि गुणों से सम्पन्न पुरुष नहीं है, यह ब्रह्म ही श्रेष्ठ द्रष्टा है; क्योंकि उसी वर्णन के क्रम में बृह.उ.३/७/२२ में परब्रह्म को ही जीव का अन्तर्यामी और जीव को उसकी देह बतलाकर दोनों के भेद का उल्लेख मिलता है। यदि **'नान्योऽतो द्रष्टा'** आदि वाक्यांशों से अन्य द्रष्टा (जीव) का निषेध बताना मानें, तो उक्त वर्णन से विरोध आ जायेगा। अत: वहाँ पर अन्य द्रष्टा के निषेध का अभिप्राय ब्रह्म को सर्वश्रेष्ठ द्रष्टा बतलाकर उसके प्रति आदर प्रकट करना ही मानना चाहिए।।४१॥

फलविषयक श्रुतियों का विरोधाभास दूर करने के उपरान्त सिद्धान्त-निर्णय करने हेतु अगला प्रकरण शुरू करते हैं। छा.उ. (८/२/१ से १० तक) के अन्तर्गत दहरविद्या में एवं प्रजापति इन्द्र संवाद में जिस ब्रह्मविद्या का उल्लेख है, उसके फल में इच्छा के अनुसार नाना प्रकार के भोगों को भोगने का वर्णन है; किन्तु अन्यत्र वैसी बात नहीं कही गयी है। अत: जिज्ञासा उठती है कि ब्रह्मलोक को पाने वाले सभी साधकों के लिए यह नियम है अथवा उसमें विकल्प है? अगले सूत्र में आचार्य इसी का समाधान दे रहे हैं—

(४०२) तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम्।।४२॥

सूत्रार्थ- तन्निर्धारणानियम: = उन भोगों के भोगने का कोई निर्धारित नियम नहीं है; तद्दृष्टे: = क्योंकि यह बात उस प्रकरण में बारम्बार 'यदि' शब्द के प्रयोग से देखी गई है, हि = तथा दूसरा कारण यह भी है कि, पृथक् = विषयों से भिन्न संकल्प वाले के लिए, अप्रतिबन्ध: = जन्म-मृत्यु के सांसारिक बन्धनों से मुक्त होना ही, फलम् = फल कहा है।

व्याख्या- छान्दोग्योपनिषद् (८/२/१ से लेकर १० तक) में उक्त कथन के सन्दर्भ में इस प्रकार वर्णन मिलता है- ब्रह्मलोक में गमन करने वाले समस्त योगी-साधकों को उस लोक के दिव्य भोगों का भोग भोगना पड़े, ऐसा कोई निर्धारित नियम नहीं है; क्योंकि जिस-जिस स्थान पर ब्रह्मविद्या का उल्लेख किया गया है, उस-उस स्थान पर भोगों के उपभोग की बात नहीं बतलाई गई है और जहाँ कहीं है भी वहाँ 'यदि' शब्द का प्रयोग करने के उपरान्त साधक की इच्छा के अनुसार उसका विकल्प दिखला दिया गया है। इस उद्धरण से यह सिद्ध हो जाता है कि जो साधक ब्रह्मलोक या अन्य किसी भी दिव्य लोक के भोगों का उपभोग करने की आशा रखता है, वे उसी को प्राप्त होते हैं। ब्रह्म के साक्षात्कार में तो ये भोग विलम्ब करने वाले अवरोध ही हैं, अत: साधकों को इन भोगों की भी इच्छा नहीं ही करनी चाहिए। इस कारण जिनके मन में भोग के उपभोग का संकल्प नहीं उत्पन्न हुआ है , उनके लिए जन्म-मृत्यु रूप सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर तुरन्त परब्रह्म को प्राप्त हो जाना ही उसका अभीष्ट फल कहा गया है।।४२॥

यदि ब्रह्मलोक के भोग भी उस अविनाशी ब्रह्म के साक्षात्कार में देरी करने वाले हैं, तो फिर श्रुति ने ऐसे फलों का उल्लेख किसलिए किया? अगले सूत्र में आचार्य इसी जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत करते हैं-

(४०३) प्रदानवदेव तदुक्तम्।।४३॥

सूत्रार्थ- तदुक्तम् = वह कहा हुआ कथन, प्रदानवत् = वरदान के समान, एव = ही है।

व्याख्या- भोग का निर्धारित नियम न होने का कथन बतलाकर भोगों की उपेक्षा का उपदेश करना योगी-साधक के लिए वरदान के समान ही मानना चाहिए; क्योंकि दिव्य भोगों की कामना, परब्रह्म से साक्षात्कार

करने में विघ्न स्वरूप है। जहाँ पर ब्रह्म के प्राप्त करने का लक्ष्य हो, वहाँ पर भोगों को तुच्छ मान लेने का उपदेश यथार्थत: वरदान स्वरूप ही सिद्ध होगा। जैसे ईश्वर अथवा अन्य कोई शक्ति-सामर्थ्य से सम्पन्न महान् पुरुष किसी श्रद्धावान् शिष्य को उसकी श्रद्धा एवं रुचि प्रवर्द्धित करने के लिए वरदान दे देते हैं, वैसे ही स्वर्गलोक के भोगों में आसक्ति रखने वाले, कामना की इच्छा से कर्म करने वाले श्रद्धावान् शिष्यों-व्यक्तियों की ब्रह्मविद्या में श्रद्धा बढ़ाकर उसमें उन्हें सन्नद्ध करने हेतु और कर्मों के प्रतिफल स्वरूप स्वर्ग में स्थित भोगों की तुच्छता बतलाने के लिए भी श्रुति का वह कथन वरदान सदृश ही है ॥४३॥

अगले सूत्र में सूत्रकार उपर्युक्त सिद्धान्त की पुष्टि हेतु एक अन्य युक्ति दे रहे हैं—

(४०४) लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ॥४४॥

सूत्रार्थ- लिङ्गभूयास्त्वात् = जन्म-मृत्यु रूप जगत् से हमेशा के लिए मुक्त होकर उस परब्रह्म को प्राप्त हो जाना रूप फल बतलाने वाले लक्षणों की अधिकता होने से, तद्बलीय: = वही फल बलशाली (प्रमुख) है, हि = क्योंकि, तदपि = अन्य फलों का वह कथन भी प्रमुख फल का महत्त्व प्रदर्शित करने के लिए ही है।

व्याख्या- वेदान्त में ब्रह्मज्ञान के फल का उल्लेख जहाँ-जहाँ मिलता है, वहाँ-वहाँ इस जन्म-मरण रूप सांसारिक बन्धनों से हमेशा के लिए मुक्त होकर उस अविनाशी परब्रह्म को प्राप्त हो जाना रूप फल का ही प्रचुरता से उल्लेख मिलता है। अत: वही बलवान् (प्रधान) फल है, यही समझना चाहिए। ब्रह्मप्राप्ति से पृथक् अर्थात् दिव्य भोगों की प्राप्ति रूप फल का जहाँ कहीं पर भी उल्लेख किया गया है, वह ब्रह्म प्राप्ति रूप प्रधान फल का महत्त्व प्रदर्शित करने वाला है, क्योंकि वैसे फलों का रूप उल्लेख सभी स्थानों (समस्त प्रकरणों) पर नहीं हुआ है, परन्तु उपर्युक्त प्रधान फल का उल्लेख तो सभी स्थानों पर मिलता है ॥४४॥

ब्रह्मज्ञान ही इस जन्म-मरणरूप सांसारिक बन्धनों से मुक्त होने का निश्चित उपाय है, यही तथ्य सिद्ध करने के लिए सूत्रकार द्वारा अगले सूत्र में पूर्वपक्ष की स्थापना की जा रही है-

(४०५) पूर्वविकल्प: प्रकरणात्स्यात् क्रियामानसवत् ॥४५॥

सूत्रार्थ- क्रियामानसवत् = देह और मन की क्रियाओं में निहित विकल्प की भाँति; पूर्वविकल्प: = पूर्व में वर्णित अग्निविद्या भी विकल्प से मुक्ति की हेतु; स्यात् = हो सकती है, प्रकरणात् = यह कथन प्रकरण से स्पष्ट होता है।

व्याख्या- उपासना सम्बन्धी शारीरिक क्रियाओं के सदृश मानसिक क्रियाओं के द्वारा भी फल प्राप्त होते हैं, जो फल यज्ञ आदि सत्कर्मों से प्राप्त होते हैं, वैसे ही फल जप और भजन से भी मिलने सम्भव हैं। गीता में भजन के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए गीताकार निष्काम कर्म का उपदेश इस प्रकार देते हैं- भगवान् में मन को लगाना ही भजन है। भजन में ही शक्ति शब्द केन्द्रित है।' भगवान् स्वयं ही भक्त की महत्ता बतलाते हुए १२/५ में कहते हैं- 'निराकार ब्रह्म में चित्त स्थित करने वाले सम्पूर्ण साधन में क्लेश अर्थात् अधिक श्रम बतलाकर कहा कि उस गति की प्राप्ति दु:साध्य है। तदुपरान्त १२/७ में **'तेषामहं समुद्धर्त्ता'** इत्यादि वाक्य-कथन से भजन करने वाले भक्तों का मृत्युरूप संसार समुद्र से शीघ्र ही उद्धार बतलाया है। इससे दैहिक और मानसिक दोनों क्रियाओं से मोक्ष का प्राप्त होना सिद्ध होता है। ऐसे ही कठोपनिषद् में 'यम-नचिकेता संवाद के अन्तर्गत उल्लेख है कि- अग्निहोत्र के तीन अनुष्ठानों के द्वारा जन्म-मृत्यु से परे साधक को अत्यन्त शान्ति की अनुभूति प्राप्त होती है' ॥४५॥

अगले सूत्र में आचार्य पुन: उपर्युक्त सूत्र में कहे हुए कथन को और दृढ़ करते हैं-

(४०६) अतिदेशाच्च ॥४६॥

सूत्रार्थ— अतिदेशात् = अतिदेश से अर्थात् विद्या की भाँति तीनों कर्मों को मोक्ष में हेतु बतलाये जाने से, च = भी (ऊपर कहा हुआ कथन उचित है)।

व्याख्या— एक मात्र प्रकरण के बलबूते ही 'कर्म' मोक्ष में हेतु सिद्ध होता है; सो ऐसा नहीं है। श्रुति (वेद) ने विद्या की भाँति ही कर्म का भी फल बतलाया है। कठोपनिषद् १/१/१७ में तीनों प्रकार के कर्मों को सम्पन्न करने वाले का जन्म-मरण से मुक्त होने का उल्लेख इस प्रकार किया गया है, यथा- **'त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू'** अर्थात् 'यज्ञ', 'दान' एवं 'तप' रूप तीन प्रकार के कर्मों को सम्पन्न करने वाला मनुष्य जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है।' इस प्रकार उक्त उद्धरण से भी कर्मों का मुक्ति में हेतु होना सिद्ध होता है॥४६॥

अब अगले सूत्र में सूत्रकार उपर्युक्त दोनों सूत्रों में उठाये हुए पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत करते हैं—

(४०७) विद्यैव तु निर्धारणात्॥४७॥

सूत्रार्थ— निर्धारणात् = श्रुतियों द्वारा निर्धारित रूप में कह दिये जाने से, तु = तो, विद्या = एकमात्र ब्रह्मविद्या, एव = ही मोक्ष में कारण है (कर्म नहीं) यही मानना चाहिए।

व्याख्या— श्रुतियों में एकमात्र ब्रह्मविद्या को ही ब्रह्म-प्राप्ति का साधन एवं मोक्ष-दायिनी बतलाया गया है। इस कारण से अन्य विद्याओं या कर्मों से वैसा फल मिलने पर भी ब्रह्मविद्या ही मुख्य है। अन्य विद्याओं के सन्दर्भ में किसी को भी निश्चित रूप से ब्रह्म को प्राप्त कराने वाली नहीं कहा गया है। इस सन्दर्भ में श्वेताश्वतरोपनिषद् ३/८ में इस प्रकार वर्णन मिलता है- उस ब्रह्म को जानकर ही मानव जन्म-मृत्यु को पार कर जाता है। मोक्ष-प्राप्ति हेतु अन्य कोई मार्ग नहीं है। इस प्रकार से यहाँ पर एकमात्र ब्रह्म-ज्ञान को मुक्ति का कारण कहा गया है, अत: ब्रह्मविद्या ही मोक्ष-प्राप्ति का हेतु है, कर्म नहीं। ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हुए कठोपनिषद् २/२/१२ में यम-नचिकेता संवाद के अन्तर्गत इस प्रकार कहा गया है- 'जो प्राणियों का अन्तर्यामी, एक, अद्वितीय एवं सभी को अपने वश में रखने वाला है, जो अपने एक ही रूप को भिन्न-भिन्न रूपों में परिणत कर लेता है, उस अपने ही हृदय में अवस्थित परब्रह्म को जो ज्ञानीजन देखते हैं, उन्हीं को सदैव रहने वाला शाश्वत आनन्द मिलता है, अन्य को नहीं। अत: सर्वप्रथम अग्निविद्या के प्रकरण में जो जन्म-मरण से मुक्त होना एवं अत्यधिक शान्ति की प्राप्ति रूप फल कहा है, वह कथन स्वर्ग लोक की प्रार्थना करने हेतु गौण रूप से है, ऐसा ही मानना चाहिए।

आचार्य अगले सूत्र में पुन: उसी कथन को दृढ़तापूर्वक प्रतिपादित करते हैं—

(४०८) दर्शनाच्च॥४८॥

सूत्रार्थ—दर्शनात् = श्रुति में अनेकों स्थलों पर ऐसा वर्णन देखे जाने के कारण, च = भी (यह निश्चित होता है)।

व्याख्या— वेद एवं अन्य दूसरे वैदिक वाङ्मय में इस तरह के निर्देश प्रचुरता से यत्र-तत्र देखे जाते हैं। इससे उक्त तथ्य (कथन) प्रमाणित हो जाते हैं, कि मुक्ति का एकमात्र साधन ज्ञान ही है, अन्य कोई स्वतन्त्र साधन मुक्ति का नहीं हो सकता। श्रुतियों में तीनों प्रकार के कर्मों के फल स्वरूप ब्रह्मलोक में गमन के उपरान्त पुन: वापस होना बतलाया गया है; लेकिन इससे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती; ऐसा कहा गया है। मुण्डकोपनिषद् १/२/९,१० में ऋषि कहते हैं कि 'यज्ञ', 'दान' एवं 'तप' रूप कर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग लोक में जाकर पुन: वापस आना पड़ता है। इसी उपनिषद् के ३/२/५,६ में वर्णन आता है कि 'ब्रह्मज्ञान का फल जन्म-मृत्यु से मुक्त होकर परब्रह्म को प्राप्त हो जाना कहा गया है।' ब्रह्मज्ञानी के लिए श्रुतियाँ ही परम मुक्ति का विधान बनाती हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि एकमात्र ब्रह्मविद्या ही मुक्ति का प्रमुख कारण है, यज्ञादि तीनों कर्म नहीं।

उपर्युक्त कथन से भी ब्रह्मविद्या की श्रेष्ठता सिद्ध होती है ॥४८ ॥

अगले सूत्र में सूत्रकार प्रकारान्तर से पूर्वपक्ष का उत्तर देते हुए इस प्रकरण को समाप्त करते हैं—

(४०९) श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ॥४९ ॥

सूत्रार्थ— श्रुत्यादिबलीयस्त्वात् = प्रकरण की अपेक्षा श्रुति के प्रमाण और लक्षण आदि बलवान् (पुष्ट) होने से, च = भी, बाधः = प्रकरण से सिद्धान्त में बाधा, न = नहीं हो सकती।

व्याख्या— वेद के अर्थ एवं भाव का निर्णय करने में प्रकरण की अपेक्षा श्रुति के वचन और लक्षण आदि को अत्यधिक पुष्ट—प्रामाणिक माना जाता है। इसलिए प्रकरण द्वारा पुष्ट होने वाली बात का निस्तारण करने वाले अधिकाधिक श्रुति प्रमाण हों और उसके विपरीत लक्षण (भेद) भी मिलें, तो एकमात्र प्रकरण की यह सामर्थ्य नहीं है कि वह सिद्धान्त में किसी भी तरह का अवरोध (बाधा) उत्पन्न कर सके। इससे यही प्रमाणित होता है कि परब्रह्म परमेश्वर का साक्षात्कार करने के लिए कहे हुए उपासना आदि साधन अर्थात् ब्रह्मविद्या ही परब्रह्म की प्राप्ति एवं जन्म-मृत्यु से मुक्त होने का एकमात्र उपाय है; कामनायुक्त यज्ञ आदि तीनों कर्म (यज्ञ, दान और तप) ब्रह्म प्राप्ति के आधार नहीं हो सकते ॥४९ ॥

अब अगले सूत्र से आचार्य श्रुति में वर्णित ब्रह्मविद्या के फल भेद के निर्णय हेतु नया प्रकरण प्रारम्भ करते हैं। ब्रह्मविद्याओं का उद्देश्य परब्रह्म का साक्षात् कराना और जीव को सदा के लिए समस्त दुःखों से मुक्ति दिलाना है। किसी विद्या का फल ब्रह्मलोकादि की प्राप्ति है और किसी विद्या का फल इस देह में रहते हुए ही ब्रह्ममय हो जाना है। इस तरह से फल में भेद क्यों किया गया है ? इसी जिज्ञासा का समाधान यहाँ प्रस्तुत है—

(४१०) अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद् दृष्टश्च तदुक्तम् ॥५० ॥

सूत्रार्थ— अनुबन्धादिभ्यः = अनुबन्ध आदि के भेद से, प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत् = उद्देश्य भेद से की जाने वाली अन्य उपासनाओं के भेद की भाँति, च = इसको भी भिन्नता है, दृष्टः = ऐसा उन प्रकरणों में देखा गया है, तदुक्तम् = तथा यह पूर्व में भी कह चुके हैं।

व्याख्या— जिस प्रकार उद्देश्य भेद से की गई विभिन्न प्रकार की उपासनाओं से विभिन्न फलों की प्राप्ति होती है और वह उपासना अपने साध्य और साधक के अनुरूप ही फल प्रदात्री है। उसी प्रकार एक ही ब्रह्म-विद्या में साधक की पृथक्-पृथक् भावनाओं के अनुसार प्रकार और फल में पृथक्ता होना स्वाभाविक है। इसे इस प्रकार समझना चाहिए कि यदि ब्रह्मविद्या के फलों में ब्रह्मलोक के दिव्य भोगों का संकल्प भाव हो, तो फिर उसमें ब्रह्म की प्राप्ति किस तरह सम्भव है ? उस साधक को तो ब्रह्मलोक के दिव्य भोग ही फलरूप में प्राप्त होंगे। जो साधक भोगों को तुच्छ मानकर ब्रह्म को ही प्राप्तव्य मानते हैं, वही उनके दर्शन के सच्चे अधिकारी हैं। जो साधक भोगों से सर्वथा विमुख होकर उस अविनाशी परब्रह्म का साक्षात् करने हेतु प्रयत्नशील हैं, उन्हें अपने आराध्य की प्राप्ति में विलम्ब होना कदापि संभव नहीं है। इसी देह के रहते-रहते यहीं पर ही परब्रह्म का साक्षात् हो जाता है। अतः भावना के भेद द्वारा पृथक्-पृथक् अधिकारियों को प्राप्त होने वाले फल में भेद रहना ठीक ही है ॥५० ॥

अगले सूत्र में सूत्रकार प्रकारान्तर से उसी सिद्धान्त को पुनः दृढ़ करते हैं—

(४११) न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ॥५१ ॥

सूत्रार्थ— सामान्यात् = यद्यपि सभी ब्रह्मविद्याएँ समान भाव से मोक्ष में हेतु हैं, अपि = फिर भी, न = बीच में होने वाले फल भेद का निषेध नहीं होता है; हि = क्योंकि, उपलब्धेः = ब्रह्म का साक्षात् हो जाने पर, मृत्युवत् = मरने के बाद देह से सम्बन्ध न रहने की भाँति, लोकापत्तिः = किसी भी लोक की प्राप्ति, न= नहीं हो सकती।

व्याख्या- समस्त ब्रह्मविद्याएँ अन्त में मोक्ष-प्रदात्री हैं। इस सन्दर्भ में सभी विद्याओं में समानता है, फिर भी किसी साधक का ब्रह्मलोक में गमन करना और किसी का ब्रह्मलोक में न गमन कर यहीं पर, इसी देह में रहते हुए ब्रह्म को प्राप्त हो जाना एवं वहाँ (उच्च लोकों में) जाकर भी किसी का प्रलयकाल तक भोगों का सुख-अनुभव करना तथा किसी का तत्क्षण ब्रह्ममय हो जाना आदि रूप से जो फलों के भेद हैं; वे उन साधकों की भावना से सम्बन्ध रखते हैं, अत: यहाँ पर इस भेद का निषेध नहीं होता।

बृहदारण्यकोपनिषद् ४/४/६ एवं कठोपनिषद् २/३/१४ में वर्णन आता है कि जिस साधक को मृत्यु के पूर्व कभी भी ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है, जो उस परब्रह्म के तत्त्व को सम्यक् रूप से जान लेता है, जिसकी ब्रह्मलोक तक किसी भी लोक के सुख-भोग में किञ्चिन्मात्र भी वासना नहीं रहती, वह किसी भी लोक विशेष में नहीं गमन करता। वह तो तत्क्षण ही उस ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। मुण्डक ३/२/७ में भी ऐसा उल्लेख मिलता है- 'प्रारब्ध भोग के उपरान्त उसके स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों के तत्त्व उसी प्रकार अपने-अपने कारण तत्त्वों में मिल जाते हैं, जैसे मृत्यु के उपरान्त प्रत्येक मानव के स्थूल शरीर के तत्त्व पञ्चभूतों में समाहित हो जाते हैं। वह पुन: किसी लोक में जाने के उपरान्त वापस नहीं होता ।।५१ ।।

अब जिज्ञासा होती है कि ऐसा होने में प्रमाण क्या है? सूत्रकार अगले सूत्र में इसी का समाधान दे रहे हैं—

(४१२) परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ।।५२ ।।

सूत्रार्थ— परेण = अगले मन्त्रों से, च = भी (सिद्ध होता है कि), शब्दस्य = उसमें कहे हुए शब्द समूह का, ताद्विध्यम् = वैसा ही भाव है, तु = किन्तु अन्य साधकों के, भूयस्त्वात् = अन्य भावों की प्रचुरता से, अनुबन्धः = सूक्ष्म एवं कारण शरीर से सम्बन्ध बना रहता है, इसलिए वे ब्रह्मलोक में गमन करते हैं।

व्याख्या— परब्रह्म की परिकल्पना करने वाले साधकों का दैहिक सम्बन्ध छूटता है। इस सन्दर्भ में मुण्डकोपनिषद् ३/२/६ में सर्वप्रथम तो यह कहा कि 'वेदान्त के ज्ञान से जिनने वेदान्त के अर्थभूत परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप की अवधारणा कर लिया है, कर्मफल रूप सभी भोगों को त्यागरूप योग के द्वारा जिनका अंत:करण परिष्कृत हो गया है, वे सभी साधक मृत्यु के समय में ब्रह्म लोकों में जाकर परम अमृतमय होकर मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं। इसके पश्चात् इसी उपनिषद् के ३/२/७ में जिन्हें इस देह का नाश होने से पूर्व ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है, उनके सन्दर्भ में यह कहा गया है कि 'पन्द्रह कलाएँ अर्थात् प्राणों के सहित समस्त इन्द्रियाँ अपने-अपने देवों में विलीन हो जाती हैं, जीव और उसके सभी कर्म-संस्कार आदि परब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। तदुपरान्त मु. ३/२/८ में नदी और सागर का दृष्टान्त देकर यह कहा गया है कि-'वह ब्रह्मज्ञाता विद्वान् नाम-रूप को यहीं त्याग कर परब्रह्म में विलीन हो जाता है। इस प्रकार शुद्ध अन्तस् वाले साधकों के लिए ब्रह्मलोक की प्राप्ति बताने के पश्चात् साक्षात् ब्रह्म को जानने वाले विद्वान् का यहीं नाम-रूप से मुक्त होकर ब्रह्म में विलय होना बतलाने वाले शब्द समूह पूर्व सूत्र में कही हुई बात को स्पष्ट करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जिनके अन्तस् में ब्रह्मलोक के महत्त्व का भाव है, वहाँ जाने के सङ्कल्प से जिनका सूक्ष्म और कारण देह से सम्बन्ध अलग नहीं हुआ है; ऐसे ही साधक ब्रह्मलोक में जाते हैं और जिन्हें यहीं सशरीर ब्रह्मसाक्षात् हो जाता है, वे नहीं जाते। यह अवान्तर फल-भेद होना ठीक ही है ।।५२ ।।

मोक्ष सम्बन्धी फल भेद के प्रकरण को पूर्ण करके अब शरीर पात के पश्चात् आत्मा की सत्ता एवं कर्मफल का भोग न स्वीकारने वाले नास्तिकों के मत का खण्डन करने हेतु अगला प्रकरण प्रारंभ करते हैं—

(४१३) एक आत्मनः शरीरे भावात् ।।५३ ।।

सूत्रार्थ— एके = कई एक आचार्यगण कहते हैं कि, आत्मन: = आत्मा का, शरीरे = शरीर होने पर ही,

भावात् = भाव होने से (शरीर से पृथक् आत्मा की सत्ता नहीं है)।

व्याख्या— नास्तिक विचारधारा को मानने वाले आचार्यगण, शरीर के साथ ही आत्मा का सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि जब तक यह देह है; तभी तक इसमें चैतन्य आत्मा की प्रतीति होती है; शरीर के अभाव में आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता अर्थात् उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीर से पृथक् आत्मा का अस्तित्व नहीं है। अत: मृत्यूपरान्त आत्मा परलोक में जाकर कर्मों का फल भोगता है, अथवा ब्रह्मलोक में जाकर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। ये सभी तथ्य असंगत सा प्रतीत होते हैं॥५३॥

अगले सूत्र में सूत्रकार उपर्युक्त तथ्यों का समाधान प्रस्तुत करते हैं—

(४१४) व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत्॥५४॥

सूत्रार्थ— व्यतिरेक: = शरीर से आत्मा पृथक् है, तद्भावाभावित्वात् = क्योंकि देह के रहते हुए भी उसमें आत्मा नहीं रहता, न = इसलिए आत्मा शरीर नहीं है, तु = किन्तु, उपलब्धिवत् = ज्ञातापन की प्राप्ति के समान (यह सिद्ध होता है कि आत्मा देह से पृथक् है)।

व्याख्या— शरीर और आत्मा- दोनों एक ही हैं; यह कहना ठीक नहीं; किन्तु शरीर से अलग सभी प्राणियों और उनके कार्यों का ज्ञाता आत्मा अवश्य है; क्योंकि मृत्यु की अवधि में देह हमारे समक्ष पड़ा रहता है; तब भी उसमें समस्त पदार्थों का ज्ञाता चेतन आत्मा नहीं रहता। अत: जिस तरह यह प्रत्यक्ष है कि देह के रहते हुए भी उसमें जीव नहीं रहता, वैसे ही यह भी मान लेना चाहिए कि देह के न रहने पर भी आत्मा का अस्तित्व बना रहता है। वह इस स्थूल देह में नहीं, तो अन्य सूक्ष्म-कारण देहों में अवश्य रहता है; किन्तु आत्मा का अभाव नहीं होता। इसलिए यह कहना सदैव युक्ति के विपरीत है कि इस स्थूल देह से पृथक् आत्मा नहीं है। यदि इस देह से पृथक् चेतन आत्मा नहीं होता, तो वह अपने और दूसरों के देह को नहीं जान सकता; क्योंकि घट आदि जड़ पदार्थों में एक-दूसरे को अथवा स्वयं को जानने की सामर्थ्य नहीं है। जिस तरह सभी का ज्ञाता होने से ज्ञाता रूप में आत्मा की प्राप्ति प्रत्यक्ष है; वैसे ही देह का ज्ञाता होने से इस ज्ञेय देह से उसका पृथक् होना भी प्रत्यक्ष ही है। इस प्रकार से यह स्पष्ट होता है कि आत्मा और देह दोनों एक नहीं हैं॥५४॥

नास्तिकवाद का संक्षिप्त खण्डन करने के बाद अब पुन: भिन्न-भिन्न श्रुतियों पर विचार करने हेतु आगे का प्रकरण प्रारम्भ करते हैं। अब जिज्ञासा यह उठती है कि भिन्न-भिन्न शाखाओं में यज्ञों के उद्गीथ आदि अङ्गों में भेद है, अत: यज्ञादि के अंगों द्वारा सम्बन्ध रखने वाली उपासना एक शाखा में कहे हुए प्रकार से अन्य शाखा वालों को करनी चाहिए अथवा नहीं? इसी का यहाँ समाधान करते हैं—

(४१५) अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम्॥५५॥

सूत्रार्थ— अङ्गावबद्धा: = यज्ञ के उद्गीथ आदि अङ्गों से सम्बद्ध उपासनाएँ, शाखासु हि = जिस शाखा में कही गयी हों, उसी में करने योग्य हैं; न = ऐसी बात नहीं है, तु = किन्तु; प्रतिवेदम् = प्रत्येक वेद की शाखा वाले उसका अनुष्ठान सम्पन्न कर सकते हैं।

व्याख्या— यज्ञ के उद्गीथ आदि अङ्गों से सम्बन्धित उपासना का जिन शाखा वालों ने उल्लेख किया है, वही उसकी उपासना कर सकते हों, सो ऐसी बात नहीं है; बल्कि सभी वेदों की शाखा वाले उसका अनुष्ठान (उपासना) कर सकते हैं। छान्दोग्योपनिषद् १/१/१ में इसका उल्लेख निम्नवत् है- **'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत'** अर्थात्- 'ॐ' इस एक अक्षर की उद्गीथ के रूप में उपासना करनी चाहिए। इसी उपनिषद् के २/२/१ में वर्णन आता है- **'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत्'** अर्थात् पाँच प्रकार के साम की लोकों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर उपासना करनी चाहिए। इस प्रकार से यज्ञादि के अङ्गरूप उद्गीथ से सम्बन्ध रखने वाली जो

प्रतीक उपासना कही गयी है, उसका जिस शाखा में उल्लेख है, उसी शाखा वालों को उसका अनुष्ठान करना चाहिए, इससे इतर शाखा वालों को अनुष्ठान नहीं करना चाहिए, सो ऐसा नहीं है; बल्कि प्रत्येक वेद की शाखा को मानने वाले उसका अनुष्ठान सम्पन्न कर सकते हैं॥५५॥

सूत्रकार उक्त तथ्य को अगले सूत्र में उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं —

(४१६) मन्त्रादिवद्वाविरोधः॥५६॥

सूत्राथ— वा = अथवा इस प्रकार समझें कि, मन्त्रादिवत् = मन्त्र के सदृश, अविरोधः = इसमें किसी भी तरह का कोई विरोध नहीं है।

व्याख्या— जिस तरह एक शाखा द्वारा बतलाये गये मन्त्र और यज्ञोपयोगी साधनों का दूसरी शाखा वाले अपनी आवश्यकता के अनुरूप उपयोग कर लेते हैं, उसमें किसी भी तरह का कोई विरोध नहीं है; उसी तरह उपर्युक्त सूत्र में बतलाई हुई उद्‌गीथ आदि यज्ञाङ्गों से सम्बन्ध रखने वाली उपासनाओं का सभी शाखा वाले उपयोग कर सकते हैं। इसमें कुछ भी विरोध नहीं है।

सूत्र में 'आदि' पद द्वारा कर्म और गुण का संग्रह होता है। एक शाखा से अन्य शाखा में गुणोपसंहार के कई प्रसङ्ग पूर्व में आ चुके हैं। कर्म का अनुवर्त्तन भी एक शाखा से अन्य शाखा में देखा जाता है। जिन शाखाओं में समित् आदि प्रयाजों को नहीं पढ़ा गया है; उनमें भी गुणविधि से प्रयाजों के अनुवर्त्तन का संकेत मैत्रायणी संहिता १/४/१२ में कहा है- **'ऋतवो वै प्रयाजाः समानत्र होतव्या ऋतूनां प्रतिष्ठित्यै'** अर्थात् विशेष ऋतुओं में किये जाने वाले प्रयाज समान देश में अनुष्ठित होने चाहिए, इससे ऋतुओं की उचित स्थिति बनी रहती है। इस प्रकार से यज्ञाङ्गों की उपासनाओं के अनुवर्त्तन में कोई विरोध नहीं होना चाहिए। जैसे सभी मंत्रों के आदि में 'ओम्' का उच्चारण होने से शाखा भेद के आधार पर कोई आपत्ति नहीं होती, वैसे ही उद्गीथ आदि उपासना के शाखान्तर में अनुवर्त्तन से कोई आपत्ति नहीं होगी। अतः आश्रयभूत कर्माङ्गों के अनुवर्त्तन की भाँति आश्रित उपासना विधियों का शाखान्तरों में अनुवर्त्तन स्वीकार करना उचित ही है, अनुचित नहीं॥५६॥

जैसे शास्त्रों में वैश्वानर विद्या के एक-एक अंग की उपासना का अलग-अलग उल्लेख आता है, वैसे ही और भी अनेकों स्थलों में अलग-अलग वर्णन देखने को मिलते हैं, तो ऐसी उपासनाओं में उनके प्रत्येक अङ्ग की अलग-अलग उपासना करनी चाहिए अथवा सभी अङ्गों का समुच्चय करके एक साथ सभी की उपासना करनी चाहिए?

अगले सूत्र में सूत्रकार द्वारा इसी जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत किया जा रहा है—

(४१७) भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति॥५७॥

सूत्रार्थ— क्रतुवत् = अङ्ग-उपाङ्गों से परिपूरित यज्ञ के समान, भूम्नः = पूर्ण उपासना की, ज्यायस्त्वम् = प्रामाणिकता है, हि = क्योंकि, तथा = वैसा ही, दर्शयति = श्रुति दृष्टिगोचर कराती है।

व्याख्या— जिस प्रकार यज्ञ का सर्वाङ्गपूर्ण अनुष्ठान किया जाना ही सर्वोत्तम है, उसी प्रकार वैश्वानर आदि विद्याओं में कही हुई उपासना का अनुष्ठान भी सर्वाङ्गपूर्ण करना ही श्रेष्ठ है; उसके एक अङ्ग का करना नहीं। वैश्वानर-विद्या के समान अन्यत्र सभी जगह भी यही बात माननी चाहिए, क्योंकि श्रुति ने वैसा ही भाव वैश्वानर-विद्या के वर्णन में प्रदर्शित किया है। छान्दोग्योपनिषद् ५/११ से १७ तक के खण्ड में इस विद्या के सन्दर्भ में इस प्रकार वर्णन मिलता है- राजा अश्वपति ने प्राचीनशाल आदि ऋषियों से अलग-अलग पूछा कि 'तुम वैश्वानर की उपासना कैसे करते हो?' उन ऋषियों ने अपनी-अपनी बात बतलायी। राजा ने पुनः एक-एक करके सभी को बतलाया कि- 'तुम अमुक अङ्ग की उपासना करते हो।' इसी के साथ ही राजा ने उस एकाङ्ग उपासना का सामान्य फल बतलाया तथा सभी को डराते हुए कहा- 'यदि तुम मेरे पास न आते, तो

तुम्हारा सिर धड़ से अलग हो जाता, तुम अंधे हो जाते' आदि। इसके बाद छा.उ. ५/१८/१ में बतलाया कि 'तुम सभी लोग उस वैश्वानर ब्रह्म के एक-एक अङ्ग की उपासना करते हो, जो इस तथ्य को जानकर आत्मा रूप से इस विद्या की उपासना करता है, वह सभी लोकों में, सभी भूतों में तथा समस्त आत्माओं में अन्न ग्रहण करने वाला हो जाता है। इस प्रकार से वहाँ सर्वाङ्गपूर्ण उपासना का अधिक महत्त्व बतलाया गया है। अत: यहाँ यही स्पष्ट होता है कि एक-एक अङ्ग की उपासना की अपेक्षा सर्वाङ्गपूर्ण उपासना सर्वोत्तम है। इसलिए साधक को सर्वाङ्ग उपासना का ही अनुष्ठान सम्पन्न करना चाहिए॥५७॥

विविध रूपों से कही हुई ब्रह्मविद्या अलग-अलग है या एक ही है? इसी जिज्ञासा का समाधान अगले सूत्र में किया जा रहा है—

(४१८) नाना शब्दादिभेदात्॥५८॥

सूत्रार्थ- शब्दादि = शब्द आदि का, भेदात् = भेद होने से, नाना = समस्त विद्याएँ अलग-अलग हैं।

व्याख्या- श्रुतियों में विविध विद्याओं का उल्लेख प्राप्त होता है। वे विद्याएँ निम्नवत् हैं— सद्-विद्या, भूमा-विद्या, दहर-विद्या, उपकोशल विद्या, शाण्डिल्य- विद्या, वैश्वानर-विद्या, आनन्दमयी-विद्या, अक्षर-विद्या आदि। अलग-अलग नामों एवं विविध-विध विधान वाली इन विद्याओं में नाम, प्रकार और साधन आदि का भेद है। किसी साधक को एक विद्या उचित लगती है, तो दूसरे के लिए अन्य कोई विद्या उचित प्रतीत होती है। वह उसी की प्राप्ति में लग जाता है। अत: समस्त विद्याओं का फल एक ब्रह्म की प्राप्ति होने पर भी एक नहीं है, पृथक्-पृथक् है। विद्याओं में भेद होने से उसके फल प्राप्ति में भी भेद होना स्वाभाविक है॥५८॥

अब जिज्ञासा यह होती है कि इन सभी विद्याओं को मिलाकर अनुष्ठान करना चाहिए या फिर एक-एक का अलग-अलग करें? अगले सूत्र में इसी आशंका का समाधान सूत्रकार करते हैं—

(४१९) विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्॥५९॥

सूत्रार्थ— अविशिष्टफलत्वात् = समस्त विद्याओं का फल एक ही ब्रह्म की प्राप्ति है, इसमें कोई भेद नहीं है, विकल्प: = अत: जो जिस उपासना को कर रहा है, उसी को करे, वही उचित है; क्योंकि वे (उपासनाएँ) विकल्प रूप में ही मानी गई हैं।

व्याख्या— जो साधक जिस विद्या के अनुरूप उपासना सम्पन्न कर रहा है, उसे अपनी उपासना में किञ्चिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं करना चाहिए; क्योंकि समस्त विद्याओं का एकमात्र लक्ष्य परब्रह्म की प्राप्ति ही है, जिसे वह किसी भी उपासना पद्धति से प्राप्त कर सकता है। श्रेष्ठ स्वर्गादि की प्राप्ति के साधनभूत अलग-अलग यज्ञ-यागादि बतलाये गये हैं, जबकि स्वर्गादि की प्राप्ति के लिए यज्ञ यागादि के समूह (समुच्चय) की आवश्यकता होती है, क्योंकि स्वर्गीय सुख-सुविधाएँ अनेक हैं, उनके लिए अनेक साधन (यज्ञ-यागादि) अपनाने होते हैं। उपर्युक्त वर्णित विद्याओं का ब्रह्म साक्षात्कार रूप एक ही फल की प्राप्ति होने से उसके समुच्चय की जरूरत नहीं रहती। अत: यह सिद्ध हुआ कि साधक अपनी इच्छा के अनुसार किसी एक विद्या के द्वारा ही साधना करके अभीष्ट लक्ष्य (ब्रह्मसाक्षात्कार) प्राप्त कर सकता है॥५९॥

अब जिज्ञासा यह होती है कि जो कामनायुक्त उपासनाएँ अलग-अलग फलों के लिए कही गई हैं, उनका अनुष्ठान कैसे करना चाहिए? अगले सूत्र में सूत्रकार इसी जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं-

(४२०) काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात्॥६०॥

सूत्रार्थ- काम्या: = कामनायुक्त उपासनाओं का अनुष्ठान, तु = तो, यथाकामम् = जैसी कामना हो तदनुसार, समुच्चीयेरन् = समुच्चय करके करनी चाहिए; वा अथवा, न = समुच्चय न करें, तो अलग-अलग करें, पूर्वहेत्वभावात् = क्योंकि इनमें पूर्वोक्त फल की समानता का अभाव है।

व्याख्या- कामनायुक्त (सकाम) उपासनाओं में सभी का एक जैसा फल नहीं कहा गया है। अलग-अलग उपासनाओं के अलग-अलग फल बतलाये गये हैं। इस तरह से उपर्युक्त हेतु (एक मात्र ब्रह्म की प्राप्ति) न होने से सकाम उपासना का अनुष्ठान साधक अपनी-अपनी इच्छा-कामना के अनुरूप जैसा उचित समझे वैसा कर सकता है। अत: एक उपासना के द्वारा समस्त इच्छा-कामनाओं की सिद्धि नहीं हो सकती। साधक की जैसी कामना हो, तदनुरूप उपासना करे या फिर यदि अधिक भोगों की इच्छा हो, तो उन-उन भोगों को प्रदान करने वाली उपासनाओं का समुच्चय करके भी कर सकता है। अधिक भोगों की इच्छा वाला साधक, उन-उन उपासनाओं को पृथक्-पृथक् करे, तो भी ठीक है। यह सब उसकी इच्छा, शक्ति और सामर्थ्य पर निर्भर करता है। इसमें किसी भी तरह का कोई अवरोध नहीं होता॥६०॥

अब अगले सूत्र से उद्गीथ आदि अङ्गों में की जाने वाली उपासना के सन्दर्भ में विचार करने हेतु सूत्रकार अगला प्रकरण प्रारम्भ करते हैं। सर्वप्रथम चार सूत्रों द्वारा पूर्वपक्ष की उत्थापना की जा रही है—

(४२१) अङ्गेषु यथाश्रयभाव:॥६१॥

सूत्रार्थ— अङ्गेषु = उद्गीथ आदि भिन्न-भिन्न यज्ञाङ्गों में (की जाने वाली उपासनाओं का), यथाश्रयभाव: = आश्रय के अनुसार ही भाव समझ लेना चाहिए॥

व्याख्या— उद्गीथ आदि भिन्न-भिन्न यज्ञाङ्गों में जो 'ॐ' कार आदि की उपासनाएँ की जाती हैं, इनका वर्णन उपर्युक्त इसी पाद के ५५ वें सूत्र में किया जा चुका है। उनमें से जो उपासना जिस यज्ञाङ्ग के आश्रित है, उसकी उसी अंग के आश्रयानुसार व्यवस्था करनी चाहिए। इससे यह सिद्ध होता है कि जिन-जिन कर्मों के द्वारा अङ्गों का समुच्चय संभव हो सकता है, उन-उन अङ्गों से सम्बन्धित की जाने वाली उपासनाओं का भी उन कर्मों के द्वारा समुच्चय स्थापित किया जा सकता है। इस प्रकार से अंग-उपासनाओं के अनुष्ठान में समुच्चय का माना जाना युक्तिसंगत ही है॥६१॥

उक्त प्रतिपादन के अतिरिक्त अगले सूत्र में पुन: उसी बात को कहा जा रहा है—

(४२२) शिष्टेश्च॥६२॥

सूत्रार्थ— शिष्टे: = श्रुति के शासन (विधान) से; च = भी (यही मानना उचित है)।

व्याख्या— यज्ञीय कर्म के अङ्गभूत उद्गीथ आदि स्तोत्रों के समुच्चय का श्रुति में विधान होने के कारण उनकी आश्रित उपासनाओं का समुच्चय भी स्वयमेव सिद्ध हो जाता है। जिस प्रकार उद्गीथ आदि यज्ञाङ्गों के स्तोत्रों के समुच्चय का शासन (विधान) है, उसी प्रकार से उनके आश्रित उपासनाओं के समुच्चय का शासन भी उनके साथ ही संलग्न हो जाता है। इस प्रकार की अङ्गाश्रित उपासनाओं का विधान छान्दोग्योपनिषद् (१/१/१) में देखने को मिलता है। '**ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत्**' अर्थात् 'ओम्' इस अक्षर उद्गीथ की उपासना करनी चाहिए। जब आश्रय के अनुसार विधान है, तब अनुष्ठान उसी के सदृश होना चाहिए। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कर्मों के अङ्गानुसार उनके आश्रित रहने वाली उपासनाओं का समुच्चय हो सकता है॥६२॥

अगले सूत्र में सूत्रकार इसी प्रसङ्ग के अन्तर्गत एक अन्य हेतु और प्रतिपादित करते हैं—

(४२३) समाहारात्॥६३॥

सूत्रार्थ— समाहारात् = कर्मों का समाहार अर्थात् कर्म को पूर्ण करने को कहा गया है, अत: उनके आश्रित उपासनाओं का भी समाहार (समुच्चय) उचित ही है अथवा कर्म में हुई कमी को पूर्ण करने से अंग उपासनाओं में यथाश्रय भाव की जानकारी प्राप्त होती है।

व्याख्या- श्रुतियों ने कर्मों के द्वारा समाहार (कमी को पूर्ण करने) का निर्देशन किया है। इससे उनके आश्रित

उपासनाओं का समाहार करने से भी समुच्चय होना सिद्ध होता है। इस सन्दर्भ में छा.उ. (१/५/५) में इस प्रकार कहा गया है- **'य उद्गीथः स प्रणवः ..... स उद्गीथः'** अर्थात् जो उद्गीथ है, वही प्रणव है, वही उद्गीथ है। इस प्रकार प्रणव और उद्गीथ की एकता की उपासना का विधान कर उसके फल का कथन इस प्रकार किया है- **'होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीतमनु समाहरति'** (छा. १/५/५) अर्थात् प्रणव और उद्गीथ की एकता को जानने वाला उद्गाता सामगान की अशुद्धि को होता के आसन पर बैठे हुए ही ॐ उच्चारण करके संशोधित कर देता है। कर्म की कमी को पूर्ण कर देना ही समाहार है। इस समाहार से भी अङ्गाश्रित उपासना का समुच्चय मानना प्रमाणित होता है॥६३॥

अगले सूत्र में सूत्रकार ने उपर्युक्त अर्थ की सिद्धि के लिए एक अन्य हेतु बतलाया है—

(४२४) गुणसाधारण्यश्रुतेश्च॥६४॥

सूत्रार्थ— गुणसाधारण्यश्रुतेः = गुणों की साधारणता बतलाने वाली श्रुति से, च = भी (यही बात सिद्ध होती है)। अर्थात् अङ्ग उपासनाओं के अनुष्ठान में समुच्चय इस कारण भी मान लेना चाहिए; क्योंकि गुण अर्थात् कर्माङ्गों के उपासना सहित 'ॐ कार' का सभी कर्मों में समानरूप से होना श्रुति बतलाती है।

व्याख्या— ॐकार जो उपासना का गुण है, उसका प्रयोग तीनों वेदों में समान भाव से किया गया है। 'ॐ' द्वारा ही त्रयी-विद्या की प्रवृत्ति बतलाई गई है। इसका उल्लेख छान्दोग्योपनिषद् (१/१/९) में इस प्रकार मिलता है- **'तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते, ओमित्या श्रावयति, ओमिति शंसति, ओमित्युद्गायति'** अर्थात् उस 'ओम्' से यह ऋक् यजुः साम रूपी त्रयीविद्या प्रवृत्त होती है। 'ॐ' कहकर अध्वर्यु सुनाता है (कर्म करता है), 'ॐ' कहकर होता स्तुति (कथन) करता है और उद्गाता 'ॐ' कहकर स्तोत्र-गान करता है। यहाँ पर त्रयी-विद्या के संग ओम् का समान सम्बन्ध कहा गया है, जो कर्म के अंगभूत उद्गीथ आदि उपासनाओं के अनुष्ठान में समुच्चय का सूचक है। कर्म के साथ उद्गीथ गान आवश्यक है और उसके साथ उपासना भी जरूरी है। इस प्रकार कर्म के साथ उपासना का निश्चित समुच्चय मिलता है। अतः इस कारण से भी उपासनाओं का उनके आश्रयभूत कर्माङ्गों के साथ समुच्चय होना उचित सिद्ध होता है। उपर्युक्त चार सूत्रों द्वारा इसी भाव को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया गया है॥६४॥

उपर्युक्त चार सूत्रों द्वारा पूर्वपक्ष की उत्थापना करने के उपरान्त आगे के दोनों सूत्रों में आचार्य उत्तर (समाधान) देकर इस तृतीय पाद का समापन करते हैं—

(४२५) न वा तत्सहभावाश्रुतेः॥६५॥

सूत्रार्थ— वा = किन्तु, न = ऐसा नहीं है, तत्सहभावाश्रुतेः = क्योंकि उन-उन उपासनाओं का समुच्चय कोई भी श्रुति नहीं बतलाती, अतः उपासनाओं का समुच्चय सिद्ध नहीं हो सकता है।

व्याख्या— जिन उपासनाओं के जो आश्रयभूत उद्गीथ आदि अङ्ग हैं, उन अङ्गों के समाहार के समान उनके साथ उपासनाओं का समाहार बतलाने वाली कोई भी श्रुति उपलब्ध नहीं है। अतः उन-उन आश्रयों का समुच्चय के समान ही उपासनाओं का समुच्चय सिद्ध नहीं होता; क्योंकि उपासनाओं का उद्देश्य अलग-अलग है। जिस उद्देश्य से जिस फल हेतु यज्ञादि कर्म सम्पन्न किये जाते हैं, उनके अङ्गों में की जाने वाली उपासना उनसे पृथक् उद्देश्य से सम्पन्न की जाती है, अतः अङ्गों के साथ उपासना के समुच्चय सम्बन्ध नहीं हैं, इसलिए आश्रयों के समुच्चय की भाँति उपासनाओं का समुच्चय होना सिद्ध नहीं हो सकता। अतः उपासनाओं का अनुष्ठान पृथक्-पृथक् ही करना उचित है॥६५॥

अगले सूत्र में आचार्य प्रकारान्तर से पुनः उक्त सिद्धान्त को पुष्ट कर रहे हैं—

(४२६) दर्शनाच्च ॥६६ ॥

सूत्रार्थ— च = और, दर्शनात् = श्रुति में उपासनाओं का समाहार न करना दिखलाया गया है, इस कारण से भी (उनका समाहार सिद्ध नहीं होता)।

व्याख्या— छान्दोग्योपनिषद् (४/१७/१०) में वर्णन आता है कि- 'एवंविद् ह वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्चर्त्विजोऽभिरक्षति' अर्थात् 'पूर्वोक्त प्रकार से इस रहस्य को जानने वाला ब्रह्मा निश्चय ही यज्ञ की, यजमान की तथा अन्य ऋत्विजों की रक्षा करता है।' यहाँ इस श्रुति में ब्रह्मविद्या की महिमा का प्रतिपादन करते हुए ऋषि ने यह प्रदर्शित किया है कि इन उपासनाओं का कर्म के साथ समुच्चय नहीं किया जा सकता है; क्योंकि यदि उपासनाओं का समाहार होता, तो दूसरे ऋत्विक् भी उस तत्त्व के ज्ञाता होते एवं स्वयं ही अपनी रक्षा करते, ब्रह्मा को उनकी रक्षा करने की जरूरत नहीं होती। इससे यही प्रमाणित होता है कि उपासनाएँ उनके आश्रयभूत यज्ञाङ्गों के अधीन नहीं हैं; स्वतंत्र हैं। अतः समुच्चय न करके उनका अलग ही अनुष्ठान सम्पन्न करना चाहिए॥६६ ॥

॥ इति तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ॥

॥ अथ तृतीयाध्याये चतुर्थः पादः ॥

तृतीय पाद के अन्तर्गत परब्रह्म की प्राप्ति हेतु अलग-अलग विद्याओं के सन्दर्भ में प्रतीत होने वाले विरोध को हटाया गया और उन विद्याओं में से किस विद्या के कौन से गुण अन्य विद्या में लिये जा सकते हैं और कौन से नहीं लिये जा सकते हैं ? इन विद्याओं का पृथक्-पृथक् अनुष्ठान करना ठीक है या इनमें से कुछ एक का समुच्चय भी हो सकता है ? इस प्रकार से अन्य कई विषयों पर गम्भीरता से विचार करके सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया।

अब चतुर्थ पाद में परब्रह्म के मिलन का स्वतन्त्र साधन है या नहीं ? उसके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग में कौन सा साधन है ? इन सभी प्रश्नों का विचार करके सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जा रहा है। सर्वप्रथम ब्रह्म की प्राप्ति स्वरूप पुरुषार्थ की सिद्धि मात्र ज्ञान से ही होती है या कर्म आदि के समुच्चय से ? इसी पर विचार शुरू करने हेतु सूत्रकार अपना मत प्रस्तुत करते हैं-

(४२७) पुरुषार्थोऽतःशब्दादिति बादरायणः ॥१ ॥

सूत्रार्थ- पुरुषार्थः = परब्रह्म प्राप्ति रूप पुरुषार्थ की सिद्धि, अतः = इस (ब्रह्मज्ञान) से होती है, शब्दात् = क्योंकि शब्द अर्थात् श्रुति वचन से यही प्रमाणित होता है, इति = ऐसा, बादरायणः = बादरायण जी कहते हैं।

व्याख्या- आचार्य बादरायण जी कहते हैं कि ब्रह्मविद्या की सिद्धि से ही मोक्ष रूपी पुरुषार्थ की सिद्धि सम्भव है। यह तथ्य श्रुति सम्मत है। इसके सन्दर्भ में आचार्य वेदव्यास जी अपने मतानुसार छा.उ. ७/१/३ का उल्लेख प्रस्तुत करते हैं- **'तरति शोकमात्मवित्'** अर्थात् आत्मज्ञानी शोक-मोह से तर (पार हो) जाता है। मुण्डकोपनिषद् ३/२/८ में भी ऐसा वर्णन मिलता है- **'तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।'** अर्थात् ज्ञानी पुरुष नाम-रूप से मुक्त होने पर परात्पर पुरुष (ब्रह्म) को प्राप्त हो जाता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् ५/१३ में भी ऐसा वर्णन किया गया है- **'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः'** अर्थात् (साधक) उस अविनाशी देव को जानकर सभी तरह के बन्धनों से मुक्त हो जाता है'। इस प्रकार श्रुति-वचनों से यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म की प्राप्ति रूप पुरुषार्थ की सिद्धि इस परम ब्रह्मज्ञान से ही सम्भव हो सकती है ॥१ ॥

अगले सूत्र में आचार्य उपर्युक्त सिद्धान्त द्वारा जैमिनि ऋषि का मतभेद प्रकट करते हुए कहते हैं-

(४२८) शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः ॥२ ॥

सूत्रार्थ— शेषत्वात् = कर्म का शेष (अङ्ग) होने से, पुरुषार्थवादः = ब्रह्मविद्या को पुरुषार्थ का हेतु बतलाना, अर्थ की सिद्धि मात्र ही है, यथा = जैसे, अन्येषु = यज्ञ के अन्य उपाङ्गों में फलश्रुति अर्थ की सिद्धि ही मानी जाती है, इति = ऐसा ही, जैमिनिः = आचार्य जैमिनि का कथन है।

व्याख्या— आचार्य जैमिनि का कथन है कि आत्मा कर्म का कर्त्ता होने से उसके स्वरूप का ज्ञान-बोध कराने वाली विद्या भी कर्म का अङ्ग है। अतः उसे पुरुषार्थ का साधन बतलाना तो उसकी प्रशंसा मात्र ही करना है। पुरुषार्थ का साधन तो यर्थाथतः एक मात्र कर्म ही है। जैसे कर्म के द्वारा अङ्गों की फलश्रुति उनकी प्रशंसा मात्र समझी जाती है, उसी प्रकार से इसे भी जानना चाहिए ॥२ ॥

'विद्या कर्म का अङ्ग है।' इस कथन को सिद्ध करने के लिए आचार्य अगले सूत्र में इसका हेतु बतला रहे हैं-

(४२९) आचारदर्शनात् ॥३ ॥

सूत्रार्थ— आचार = महान् पुरुषों का आचरण, दर्शनात् = देखने से भी ऐसा ही सिद्ध होता है कि विद्या कर्म का ही अङ्ग है।

व्याख्या— मात्र विद्या के द्वारा ही पुरुषार्थ सिद्ध न होने के पक्ष में महान् पुरुषों का उत्तम आचरण भी प्रमाण है। इस विषय में बृह.उ. ३/१/१ में कहा गया है कि 'एक बार राजा जनक ने प्रचुर दक्षिणा वाला यज्ञ किया, उसमें कुरु और पाञ्चाल देश के बहुत से ब्राह्मण एकत्रित हुए थे।' छान्दोग्य ५/११/५ में भी ऐसा ही कुछ

उक्त ब्रह्मविद्या का मोक्षरूपी फल कोई अवरोध न होने से जिस साधक पुरुष को इसी जन्म में मिलता है, उसे यहीं मर्त्यलोक में ही प्राप्त हो जाता है या लोकान्तर में? इसी जिज्ञासा का समाधान आचार्य अगले सूत्र में देते हुए चतुर्थपाद के सहित तीसरा अध्याय पूर्ण करते हैं—

(४७८) एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ॥५२॥

सूत्रार्थ- एवम् = इस प्रकार, मुक्तिफलनियमः, = किसी एक ही लोक में मोक्ष रूपी फल प्राप्त होने का प्राविधान नहीं है, तदवस्थावधृतेः = क्योंकि उसकी अवस्था सुनिश्चित की गई है, तदवस्थावधृतेः = उसकी अवस्था सुनिश्चित की गई है। ('तद्वस्थावधृतेः' पद की पुनरावृत्ति अध्याय समाप्ति का सूचक है)।

व्याख्या- ब्रह्मविद्या द्वारा प्राप्त होने वाले मोक्षरूपी फल के सन्दर्भ में जैसे यह प्राविधान नहीं है कि वह इसी जन्म में मिल जाता है अथवा मृत्यूपरान्त अगले जन्म में मिलता है। वैसे ही उस सन्दर्भ में यह भी कोई प्राविधान नहीं है कि वह इस लोक में प्राप्त होता है अथवा ब्रह्मलोक में प्राप्त होता है? इस विषय में कठोपनिषद् (२/३/१४) में कहा गया है- जब इस (साधक) के हृदय में अवस्थित सभी तरह की कामनाओं का पूर्णरूपेण अभाव हो जाता है तथा इस स्थिति (अवस्था) में पहुँचा हुआ साधक परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार के वचनों द्वारा श्रुतियों में मोक्ष की स्थिति का स्वरूप निरूपित किया गया है। जिसे इस प्रकार की ब्राह्मी-स्थिति देह के रहते-रहते प्राप्त हो जाती है, वह तो इसी देह के रहते हुए यहीं पर परमात्मामय हो जाता है और जिस साधक को उक्त स्थिति नहीं मिल पाती, वह अगले जन्म में ब्रह्मलोक में गमन कर परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है॥५२॥

॥ इति तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ॥

॥ अथ चतुर्थाध्याय प्रथमः पादः ॥

विगत (तृतीय) अध्याय में ईश्वर प्राप्ति के साधनों का दिग्दर्शन कराने वाली श्रुतियों पर विचार किया गया। अब इस अध्याय में यह निरूपित किया जा रहा है कि उपासनाओं का क्या-क्या प्रतिफल होता है। यहाँ यह जिज्ञासा स्वाभाविक ही है कि वे उपासनाएँ मात्र अध्ययन से फल प्रदायक होंगी अथवा उनके अभ्यास की आवश्यकता है। इसी समाधान के लिए आचार्य द्वारा अगला प्रकरण आरम्भ किया जा रहा है—

(४७९) आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥१ ॥

सूत्रार्थ— आवृत्तिः = उपासना की आवृत्ति अर्थात् अभ्यास बारम्बार करना चाहिए, क्योंकि; असकृदुपदेशात् = श्रुतियों में इसके लिए बार-बार उपदेश किया गया है।

व्याख्या— श्रुतियों में अनेकशः ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी उपदेश दिया गया है। इससे संकेत मिलता है कि अध्येता साधक को निर्दिष्ट ब्रह्मज्ञान को न केवल पढ़ना, सुनना; वरन् उस पर चिन्तन-मनन करके उसे धारण करना चाहिए। बृह. उ. ४/५/६ के '**आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**' में यही सन्देश ध्वनित होता है। इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद् ३/१/८ एवं ३/२/१ में ब्रह्म प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्न करने का वर्णन है। प्रह्लाद द्वारा वर्णित ईश्वरोपासना के नौ अंग-श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, पूजन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म निवेदन निर्दिष्ट हैं-

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥ -श्रीमद्भागवत ७.५.२३

इस सबसे तात्पर्य उपासना की अनेक विध आवृत्ति से है। अतः साधक को आत्मज्ञान अथवा ईश प्राप्ति हेतु बारम्बार प्रयत्न करना चाहिए॥१ ॥

अब एक अन्य तर्क से उपासना की आवृत्ति का तथ्य निरूपित करते हैं—

(४८०) लिङ्गाच्च ॥२ ॥

सूत्रार्थ— लिङ्गात् = स्मृति कथन रूप लिङ्ग (प्रमाण) से, च = भी (उपासना की बारम्बारता बनाये रखने की मान्यता सिद्ध होती है)।

व्याख्या— अन्यत्र भी यह तथ्य निर्दिष्ट है कि उपासना की बारम्बारता बनाये रखनी चाहिए, तभी वाञ्छित सिद्धि मिलती है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण द्वारा कहा गया है कि सभी समय में मेरा स्मरण भी कर और युद्ध भी (गी. ८/७ सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च), इसी प्रकार- जो मेरा अनन्य भक्त मेरा नित्य स्मरण करता है, उसके लिए मैं सदा सुलभ हूँ (गीता ८/१४)। बारम्बार चिन्तन करने वाला साधक परम पुरुष को प्राप्त कर लेता है। **(परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्** -गी. ८/८)। उपर्युक्त उदाहरणों से परमात्मा की बारम्बार स्मृति के कथन से यही सिद्ध होता है कि निरन्तर उपासना से ही ब्रह्म प्राप्ति सम्भव है। अन्य स्मृति ग्रन्थों में इसकी पुष्टि की गई है॥२ ॥

अब शिष्य की इस जिज्ञासा पर कि परमात्मा का निरन्तर चिन्तन किस भाव से करना चाहिए, आचार्य कहते हैं—

(४८१) आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥३ ॥

सूत्रार्थ— आत्मा = (वह मेरा) आत्मा है, इति = इस भाव से, तु = तो, उपगच्छन्ति = (ज्ञानीजन) उसे प्राप्त करते हैं, च = और, ग्राहयन्ति = अन्यों को ग्रहण कराते हैं।

व्याख्या— उपासक को चाहिए कि वह आत्मभाव से ब्रह्म की उपासना किया करे। तात्पर्य यह है कि वह ब्रह्म को अपनी आत्मा समझे। श्रुति वाक्यों में यह तथ्य इस प्रकार है कि 'जीवात्मा उस ब्रह्म का शरीर है।'

(यस्यात्मा शरीरम्)' या 'वह मेरा आत्मा अन्तर्यामी है।' इस प्रकार के वाक्यों से ब्रह्म को अपनी आत्मा मानने का अभ्यास करें। इस भाव से ब्रह्म की उपासना करने से ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है।

इसी प्रकार जिन्हें ब्रह्मज्ञान का उपदेश करें, उन्हें भी यही समझायें कि सबके अन्त: में रहने वाला तेरी आत्मा ही अन्तर्यामी है (बृह.उ. ३/४/१, गी. १८/६१, तै.उ. २/१)। इस प्रकार अन्यों को भी ब्रह्म की प्राप्ति कराये॥३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है कि क्या प्रतीकों में भी आत्म-भाव करके प्रतीकोपासना करनी चाहिए? इसी के समाधान हेतु आचार्य अगले सूत्र में कहते हैं—

(४८२) न प्रतीके न हि सः ॥४॥

सूत्रार्थ— प्रतीके = प्रतीक में, न = आत्मभाव करना उचित नहीं है, हि= क्योंकि, सः = वह (प्रतीक), न = उपासक की आत्मा नहीं है।

व्याख्या— श्रुतियों में प्रतीकोपासना का भी विधान है। छान्दोग्योपनिषद् में मन, आकाश, आदित्य आदि को भी ब्रह्म कहा गया है (छा.उ. ३/१८/१,३/१९/१)। ये सभी ब्रह्म के प्रतीक हैं, स्वयं ब्रह्म नहीं। मन इन्द्रिय है, अत: उसमें आत्म-भाव नहीं हो सकता। स्मृतियों में भी अग्नि, आकाश, जल, पृथिवी, जीव, दिशा, समुद्र, नदी एवं वृक्ष आदि को ब्रह्म का शरीर निर्दिष्ट किया गया है। ये सभी प्रतीक रूप से ब्रह्म हैं, पर आत्मभाव किये जाने योग्य नहीं। जैसे- मूर्ति आदि में ईश्वर की भावना करके उपासना तो की जाती है, पर आत्मभाव नहीं किया जाता, उसी प्रकार इन पूर्व वर्णित मन आदि में प्रतीकोपासना करें, पर आत्मभाव से नहीं॥४॥

अब शिष्य की इस जिज्ञासा पर कि क्या प्रतीक में ब्रह्मभाव करके उपासना करनी चाहिए अथवा ब्रह्म में प्रतीक का भाव करना चाहिए? आचार्य कहते हैं—

(४८३) ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥५॥

सूत्रार्थ— उत्कर्षात् = ब्रह्म के उत्कृष्ट होने से, ब्रह्मदृष्टि: = प्रतीक में ब्रह्म की भावना की जानी चाहिए; (क्योंकि निकृष्ट वस्तु में उत्कृष्ट की भावना की जाती है)।

व्याख्या— जब वास्तविक उपास्य सहजता से उपलब्ध नहीं होता, तब उसके प्रतीक को उपास्य बनाकर उसमें उपास्य की भावना करके उपासना की जाती है। चूँकि प्रतीक सदैव वास्तविक उपास्य से निकृष्ट होता है, अत: निकृष्ट में ही उत्कृष्ट की भावना की जाती है, न कि उत्कृष्ट में निकृष्ट की। इसलिए ब्रह्म में प्रतीक का आरोप नहीं हो सकता; वरन् प्रतीक में ब्रह्म का आरोप करके उपासना की जाती है। प्राण, मन, सूर्य, चन्द्रमा आदि किसी भी पदार्थ को ब्रह्म का प्रतीक मानकर उसमें ब्रह्म भाव रखकर उपासना करनी चाहिए, क्योंकि वही (ब्रह्म) सर्वश्रेष्ठ है एवं निकृष्ट में ही श्रेष्ठ की भावना की जाती है, श्रेष्ठ में निकृष्ट का भाव नहीं किया जाता। इस प्रकार प्रतीकों द्वारा भी ब्रह्म सान्निध्य प्राप्त किया जा सकता॥५॥

अब उद्गीथ आदि, जो कर्म के अङ्गभूत हैं, के विषय में कहते हैं—

(४८४) आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥६॥

सूत्रार्थ— च = तथा, अङ्गे = यज्ञ के अङ्गभूत उद्गीथ आदि में, आदित्यादिमतय: = आदित्य आदि की बुद्धि (भावना) करनी चाहिए, उपपत्ते: = क्योंकि यही युक्तिसंगत है। ऐसा करने से कर्म समृद्धि रूप फल प्राप्त होता है।

व्याख्या— आचार्य प्रतीकोपासना के सम्बन्ध में एक अन्य युक्ति देते हुए कहते हैं कि उपनिषद् ग्रन्थों में भी प्रतीकोपासना (कनिष्ठ में श्रेष्ठ की भावना) वर्णित है। छान्दोग्योपनिषद् (१/३/१) में **'य एवासौ तपति**

तमुद्गीथमुपासीत् ....' आदि मंत्र के अनुसार तप:शील आदित्य के रूप में उद्गीथ (यज्ञकर्म में सामगान के रूप में गाया जाने वाला) की उपासना का निर्देश है। इसके मूल में भी कनिष्ठ में वरिष्ठ की भावना करने का तथ्य छिपा है। उद्गीथ की आदित्य के रूप में उपासना का दूसरा अभिप्राय कर्म समृद्धि रूप फल की सिद्धि से भी है।

इस प्रकार कनिष्ठ में वरिष्ठ की भावना करना ही दूसरे शब्दों में प्रतीकोपासना है॥६॥

अब जिज्ञासु की इस जिज्ञासा पर कि क्या उपासना बैठकर करनी चाहिए अथवा चलते-फिरते किसी भी स्थिति में कर लेनी चाहिए, आचार्य समाधान करते हैं—

(४८५) आसीनः सम्भवात्॥७॥

सूत्रार्थ— आसीन: = आसीन होकर (अर्थात् स्थित-अचल होकर बैठकर) ही, सम्भवात् = उपासना करना सम्भव होने से अर्थात् बैठकर ही उपासना करनी चाहिए।

व्याख्या— श्रुति-स्मृति के अनुसार परमात्मा का जैसा स्वरूप समझ में आता है, उसके अनुसार उसका तैल धारावत् निरन्तर चिन्तन करने को ही उपासना कहते हैं। यह उपासना चलते-फिरते अथवा अन्य कोई कार्य करते रहकर सम्भव नहीं है। कारण यह है कि उन स्थितियों में मन उन कामों में लगा होने से ईश्वर में नहीं लग पाता। लेटकर करने में भी निद्रा आदि विघ्न आने की सम्भावना रहती है। अस्तु, बैठकर उपासना करने से वह निर्विघ्न रूप से सम्पन्न हो सकती है। अत: बैठकर ही उपासना करनी चाहिए किसी और प्रकार से नहीं॥७॥

इसकी पुष्टि हेतु अब अन्य तथ्य प्रस्तुत करते हैं—

(४८६) ध्यानाच्च॥८॥

सूत्रार्थ— ध्यानात् = (उपासना का स्वरूप) ध्यान होने से, च = भी (यही स्पष्ट होता है कि आसीन होकर ही उपासना करे)।

व्याख्या— उपासना का स्वरूप (इष्टदेव का) ध्यान ही है, ऐसा मुण्डकोपनिषद् ३/१/८ में भी उल्लेख है— **न चक्षुषा गृह्यते ....तं पश्यते निष्कलं ध्यायमान:।** ध्यान चित्त के एकाग्र हुए बिना नहीं हो सकता और चित्त बैठकर प्रयत्न करने से ही एकाग्र होता है। अत: बैठकर ही उपासना करनी चाहिए। इसे चलते-फिरते रहकर या अन्य किसी प्रकार नहीं किया जा सकता॥८॥

इसी को और पुष्ट करने के लिए अन्य तर्क देते हैं—

(४८७) अचलत्वं चापेक्ष्य॥९॥

सूत्रार्थ— च = तथा, अचलत्वम् = अचल रहना ही, अपेक्ष्य = आवश्यक बताया गया है।

व्याख्या— उपासक को चाहिए कि वह निश्चल रहकर उपासना करे, क्योंकि श्रुति आदि में उपासना के लिए अचल रहना आवश्यक बताया गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् २/८ में उल्लेख है कि सिर, गरदन और वक्षस्थल को उठाकर, स्थिर बैठकर, इन्द्रियों और मन को हृदय में एकाग्र करके ओंकार का जप-ध्यान करे। इस प्रकार श्रुति निर्देश से उपासना के समय अचलत्व की पुष्टि होने से यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है॥९॥

अब इसी तथ्य को स्मृति के प्रमाण से पुष्ट कर रहे हैं—

(४८८) स्मरन्ति च॥१०॥

सूत्रार्थ— च = और, स्मरन्ति = इसी प्रकार स्मरण करते हैं (स्मृतियों में भी यही तथ्य निर्दिष्ट है)।

व्याख्या— बैठकर अचल होकर एकाग्रचित्त भाव से उपासना करने का तथ्य स्मृतियों में भी वर्णित है।

प्रस्थानत्रयी के स्मृतिग्रन्थ गीता में भी उल्लेख है कि शरीर, सिर एवं ग्रीवा प्रदेश को सम एवं निश्चल करके स्थिर होकर नासिकाग्र पर दृष्टि जमाकर इधर-उधर न देखता हुआ निर्भय और निश्चिन्त होकर शान्तभाव से अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु उपासना के लिए बैठे (गी. ६/१३-१४)। इस प्रकार स्मृति प्रमाण से भी यह बात सिद्ध हो जाती है कि ध्यान-चिन्तन-उपासना का अभ्यास बैठकर ही करना उचित है ॥१०॥

अब इस जिज्ञासा पर कि 'उपासना कैसे स्थान में करना चाहिए ?' आचार्य समाधान करते हुए कहते हैं—

(४८९) यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥११॥

सूत्रार्थ— अविशेषात् = (ध्यान, उपासना हेतु) किसी स्थान विशेष का विधान न होने से, यत्र = जहाँ, एकाग्रता = चित्त की एकाग्रता सध सके, तत्र = वहीं बैठकर उपासना करनी चाहिए।

व्याख्या— श्रुतियों में उल्लेख है कि जहाँ मन एकाग्र हो सके, ऐसा स्थान ही योग के अनुकूल है। श्वेताश्वतर उपनिषद् की श्रुति (२/२०) कहती है कि जो स्थान सभी प्रकार शुद्ध, अग्नि, बालू और कंकड़ से रहित, समतल, जल, शब्द एवं आश्रय की दृष्टि से सुविधाजनक, नेत्रों को कष्ट देने वाले दृश्यों से रहित, वायु के तेज झोंकों से निर्विघ्न हो, ऐसे गुफा आदि में आश्रय ग्रहण करके ध्यान आदि का अभ्यास करना चाहिए।

उपर्युक्त श्रुति वर्णन में उपासना हेतु किसी दिशा-स्थान विशेष का निर्देश नहीं है, वरन् साधक की सुविधा का ध्यान रखकर 'मनोनुकूले' कहकर उसी की आकांक्षा पर छोड़ दिया है। पर एकाग्रता सध सके ऐसा स्थान आवश्यक बताया है। अस्तु, सहज प्राप्य निर्विघ्न और अनुकूल स्थान में उपासना करनी चाहिए ॥११॥

इस विधि से उचित स्थान पर उपासना कब तक करे, इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए आचार्य कह रहे हैं—

(४९०) आ प्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥१२॥

सूत्रार्थ— आ प्रायणात् = प्रयाण करने तक (अर्थात् मरण पर्यन्त उपासना करते रहना चाहिए), हि = क्योंकि, तत्रापि = उस समय (मरणकाल) तक भी, दृष्टम् = इससे (उपासना से) सम्बन्धित विधान देखा जाता है।

व्याख्या— साधक को चाहिए कि वह आजीवन उपासना करता रहे। ऐसा करने से वह निस्सन्देह ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेता है। यह वर्णन छान्दोग्योपनिषद् ८/१५/१ (**स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभि-सम्पद्यते**) में संप्राप्य है। श्रीमद्भगवद्गीता में अनेक स्थानों पर मरण पर्यन्त साधना करते रहने का उल्लेख है। (गी. ८/५ से १३ तक, जैसे- **अन्तकाले च मामेव, स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् । य: प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशय: । प्रयाणकाले मनसाऽचलेन, भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव। भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥**) इसका कारण यह है कि मृत्यु के समय जिस-जिस भाव का स्मरण किया जाता है, वही स्थिति प्राप्त होती है। अत: साधक को चाहिए कि वह आजीवन उपासना करे ॥१२॥

विगत सूत्र तक उपासना सम्बन्धी विषय पर प्रकाश डाला गया। अब ईश्वर प्राप्ति के निमित्त की जाने वाली उपासना-साधना के प्रतिफल पर विचार करते हैं। उपासना आदि के प्रतिफल स्वरूप जब ईश्वर की प्राप्ति हो जाती है, तब पूर्वार्जित और पश्चात् कर्त्तव्य कर्मों का क्या होता है, इसी जिज्ञासा का समाधान अगले सूत्र में कर रहे हैं—

(४९१) तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥१३॥

सूत्रार्थ— तदधिगमे = उस उपासना के प्रतिफल स्वरूप ईश्वर की प्राप्ति हो जाने पर, उत्तरपूर्वाघयो: = पूर्व अर्जित और बाद में किये जाने वाले पाप कर्मों का, अश्लेषविनाशौ = क्रमश: अलगाव और विनाश होता

है; क्योंकि, तद्व्यपदेशात् = श्रुति में यही तथ्य अनेकशः निर्दिष्ट है।

व्याख्या— श्रुति में ऐसा वर्णन प्राप्त होता है कि जिस प्रकार कमल पत्र पर जल नहीं ठहरता है, ठीक उसी प्रकार परब्रह्म को जान लेने वाले में पाप आदि कर्म लिप्त नहीं हो सकते। (छान्दो. ४/१४/३ **'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत')**। छान्दोग्य उपनिषद् में ही एक अन्य स्थल पर उल्लेख है कि जिस प्रकार सरकण्डे की सींक के अग्रभाग में रहने वाली तूल (रुई जैसा अत्यधिक हलका सरकंडे का फूल), अग्नि के सम्पर्क मात्र से भस्म हो जाता है,उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी के समस्त पाप अतिशीघ्र विनष्ट हो जाते हैं। (छान्दो. ५/२४/३ **तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवः हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते .....)**। गीता ४/३७, मुण्डको. २/२/८ में भी यही तथ्य वर्णित है। इस प्रकार उपर्युक्त श्रुति निर्देश से यही तथ्य उद्घाटित होता है कि परमात्मा की प्राप्ति के बाद पूर्वकृत पापों का क्षय हो जाता है, साथ ही भविष्य में होने वाले पाप कर्मों से भी उसका संश्लेष (सम्बन्ध) नहीं होता॥१३॥

जब ईश्वर प्राप्त हो जाता है और साधक के पापक्षय हो जाते हैं, तब उसके पुण्य कर्मों का क्या होता है, इस जिज्ञासा के समाधान स्वरूप आचार्य कहते हैं—

(४९२) इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु॥१४॥

सूत्रार्थ— इतरस्य = पुण्य कर्म समूह का, अपि = भी, एवम् = इसी प्रकार, असंश्लेषः = सम्बन्ध न होना और विनष्ट हो जाना समझना चाहिए, पाते तु = शरीर पात हो जाने पर तो (कोई भाव न रहने पर तो) वह ईश्वर को ही प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या— इससे पूर्व के सूत्र में जिस प्रकार उपासना के प्रतिफल स्वरूप पापकर्मों के क्षय हो जाने का तथ्य निर्दिष्ट है, उसी प्रकार ईश प्राप्ति हो जाने पर पुण्य कर्मों के विनष्ट हो जाने के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। श्रीमद्भगवद्गीता में ज्ञानाग्नि द्वारा (पाप-पुण्य) सभी कर्मों के दग्ध हो जाने का तथ्य निर्दिष्ट है- **यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा** (गी. ४/३७)। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी आत्मज्ञानी के लिए पुण्य और पाप दोनों से ही तर जाने का वर्णन संप्राप्य है- **स वा एष ....स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष सर्वेश्वर ...... तरति नैनं कृताकृते तपतः** (बृह. उ. ४/४/२२)।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान हो जाने पर अथवा ईश्वर की प्राप्ति हो जाने पर जिस प्रकार पाप कर्म विनष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार पूर्व में किये हुए अथवा भावी पुण्य कर्मों से भी जीवन्मुक्ति की स्थिति में साधक का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। साथ ही शरीर पात (शरीर की मृत्यु) हो जाने पर तो उसे ईश्वर की प्राप्ति हो ही जाती है॥ १४॥

अब प्रश्न यह है कि यदि पूर्व ज्ञान हो जाने पर साधक के पूर्वकृत व भावी पाप-पुण्य समाप्त हो जाते हैं तथा उनसे साधक का कोई सम्बन्ध नहीं रहता, तब उसका शरीर जीवित कैसे रह पाता है? जबकि शरीर मिलता तो कर्म फल भोग के लिए ही है? इसी शंका का समाधान आचार्य अगले सूत्र में कर रहे हैं—

(४९३) अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः॥१५॥

सूत्रार्थ— तु = किन्तु, अनारब्धकार्ये = जिनका कर्मफल भोग रूपी कार्य प्रारम्भ नहीं हुआ है, ऐसे, पूर्वे = पूर्व में किये गये पुण्य एवं पाप, एव = ही विनष्ट होते हैं, तदवधेः = (क्योंकि) श्रुति में वर्णन है कि प्रारब्ध कर्म रहने तक ही शरीर की अवधि निर्धारित होती है।

व्याख्या— श्रुति में (ज्ञान हो जाने पर) कर्मों के विनष्ट हो जाने का तथ्य वर्णित है, वह मात्र उन पाप-पुण्य रूप कर्मों के लिए है, जिनका भोगना अभी प्रारम्भ नहीं हुआ है अथवा जो अभी संचित अवस्था में हैं तथा

फल देने के लिए प्रस्तुत नहीं हुए हैं। चूँकि प्रारब्ध भोगने के लिए ही शरीर मिलता है, अत: वे भोग लेने पर ही शरीर का पात होता है। जब प्रारब्ध समाप्त हो जाते हैं, तभी साधक ईश्वर प्राप्ति कर मुक्तावस्था प्राप्त करता है। छान्दोग्य श्रुति में यह तथ्य इन शब्दों में वर्णित है- **तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथसंपत्स्य इति** (छा.उ. ६/१४/२) अर्थात् उसके लिए तभी तक देर है, जब तक प्रारब्ध विनष्ट होकर देहपात नहीं हो जाता। तत्पश्चात् वह परमात्मा में लीन हो जाता है। इस प्रकार श्रुतियों में प्रारब्ध क्षय हो जाने तक शरीर की स्थिति निर्दिष्ट हुई है ॥१५॥

अब शिष्य जिज्ञासा करता है कि यदि पूर्ण ज्ञानी हो जाने पर साधक का कर्मों से सम्बन्ध नहीं रहता, तो श्रुतियों में जो जीवन भर अग्निहोत्र आदि कर्म करने का विधान है, वह क्यों है ? आचार्य इसी का समाधान करते हुए कहते हैं—

(४९४) अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥१६॥

सूत्रार्थ— अग्निहोत्रादि = अग्निहोत्र (यज्ञ) आदि विहित कर्म, तु = तो , तत्कार्याय = उन-विहित कर्मों की रक्षा हेतु, एव = ही है, तद्दर्शनात् = श्रुति-स्मृति में ऐसा देखा गया है।

व्याख्या— अग्निहोत्रादि जैसे कार्य तो नित्य कर्म हैं, इन्हें तो आजीवन करने के लिए इनका विधान दर्शन आदि ग्रन्थों में किया गया है और इसका उद्देश्य उन कर्मों की रक्षा है। अस्तु, उचित है कि जन सामान्य कर्मों का त्याग न करे, अपितु श्रद्धापूर्वक अपने कर्मों में निरत रहे। ब्रह्मसूत्र ३/४/३२ में निर्दिष्ट इस तथ्य का वर्णन गीता. ३/२२-२४ में भी है, जिसमें भगवान् कृष्ण ने कहा है कि मेरे लिए कोई कर्म शेष नहीं है, तो भी मैं लोक संग्रह के लिए श्रेष्ठ कर्म करता हूँ, ताकि लोग उसका अनुकरण करके सत्कर्म-निरत हों। **(न मे पार्थास्ति कर्तव्यं .....उपहन्यामिमाः प्रजाः)**। अत: जन सामान्य को सत्कर्मों का परित्याग नहीं करना चाहिए ॥१६॥

अब शिष्य जिज्ञासा करता है कि यज्ञादि विहित नित्य कर्मों के अतिरिक्त क्या अन्य उससे जुड़े कर्म करने चाहिए या नहीं, इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं—

(४९५) अतोऽन्याऽपि ह्येकेषामुभयोः ॥१७॥

सूत्रार्थ— अतः = इन कर्मों से , अन्यापि = अतिरिक्त अन्य कर्म भी, उभयोः = दोनों (ज्ञानी और साधक) के लिए, हि = ही, एकेषाम् = एक शाखा वालों के विचार से उचित है।

व्याख्या— यज्ञादि कर्म तो विद्या के सहायक ही हैं, तथापि इनसे भिन्न अन्य श्रेष्ठ कर्म भी हैं, जिन्हें सम्पन्न करना एक शाखा विशेष के लोग ब्रह्मज्ञानी और साधक दोनों के लिए आवश्यक मानते हैं। श्रुति (ईशावास्योपनिषद् २ एवं ११) में वर्णन है कि आजीवन शास्त्र विहित कर्मों को सम्पन्न करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करना चाहिए। इसी प्रकार कर्म और ज्ञान दोनों मार्गों का अवलम्बन लेकर कर्म द्वारा मृत्यु से पार होकर और ज्ञान द्वारा अमृतत्व को प्राप्त करने का वर्णन भी है। अस्तु, कर्त्तापन के अहंकार और कर्म के प्रति आसक्ति से रहित होकर निर्लिप्त भाव से सभी श्रेष्ठ कर्मों में निरत रहना चाहिए ॥१७॥

अब शिष्य की इस जिज्ञासा पर कि क्या विद्या एवं कर्म के समुच्चय का भी श्रुति में विधान है, आचार्य कहते हैं—

(४९६) यदेव विद्ययेति हि ॥१८॥

सूत्रार्थ— यत् = जो, एव = भी (कर्म), विद्यया = विद्या (ज्ञान) सहित सम्पन्न किया जाता है, इति = वह सर्वश्रेष्ठ है, ऐसा श्रुति कथन होने से, हि = निश्चित रूप से विद्या और कर्म का समुच्चय हो सकता है।

व्याख्या— छान्दोग्य श्रुति (१/१/१०) में उल्लेख है कि जो कर्म ज्ञान और श्रद्धा से युक्त होकर किया जाता है, वह अपेक्षाकृत अधिक बलशाली होता है। इससे यह स्पष्ट है कि ज्ञान के अभाव में कर्म महत्त्वहीन है,

जबकि ज्ञान के साथ किये जाने वाले कर्म शक्तिशाली होने के कारण श्रेष्ठ हैं ॥१८॥

अब शिष्य यह जिज्ञासा करता है कि ज्ञानी के प्रारब्ध किस प्रकार विनष्ट होते हैं, आचार्य समाधान करते हैं—

(४९७) भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते ॥१९॥

सूत्रार्थ— इतरे = अन्य कर्मों (क्रियमाण और संचित के अतिरिक्त प्रारब्ध कर्मों) को, तु = तो, भोगेन = भोग के द्वारा, क्षपयित्वा = क्षीण (नष्ट) करके, सम्पद्यते = (वह ज्ञानी) परमात्मा या मोक्ष पद को प्राप्त करता है।

व्याख्या— विगत सूत्रों में वर्णन किया जा चुका है कि ज्ञानी के संचित कर्म तो भस्मसात् हो जाते हैं एवं क्रियमाण कर्मों से उसका सम्बन्ध ही नहीं रहता; किन्तु जिन कर्मों ने प्रारब्ध बनकर फल देना प्रारम्भ कर दिया है, उन्हें तो भोगना ही पड़ता है। अत: प्रारब्ध कर्मों को भोग के द्वारा विनष्ट करके साधक (ज्ञानी साधक) परमपद अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है। दूसरे शब्दों में वह ईश्वर को प्राप्त हो जाता है ॥१९॥

॥ इति चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ॥

॥ अथ चतुर्थाध्याये द्वितीयः पादः ॥

इस अध्याय के प्रथम पाद में उपासना सम्बन्धी निर्णय करके यह बताया गया है कि ब्रह्मज्ञानियों की क्या गति होती है, उन्हें परमात्म-प्राप्ति किस प्रकार होती है। अब इस पाद में यह उपन्यस्त करने जा रहे हैं कि ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं, तब उनकी क्या गति होती है। सामान्य व्यक्तियों तथा ब्रह्मज्ञानियों की गति में क्या समानताएँ व अन्तर हैं। इसे ही स्पष्ट करने के लिए पहले सामान्य व्यक्तियों की साधारण गति निरूपित करने हेतु यह प्रथम सूत्र प्रस्तुत है—

(४९८) वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥१ ॥

सूत्रार्थ— वाक् = वाणी, मनसि = मन में स्थित हो जाती है, दर्शनात् = प्रत्यक्ष दर्शन करने से, च = और, शब्दात् = श्रुति शब्दों या वेद वाणी से यही बात सिद्ध होती है।

व्याख्या— श्रुति (छा.उ. ६/८/६) में वर्णन आया है कि जब यह शरीर मृत्यु को प्राप्त होने वाला होता है, तब उस मरणासन्न अवस्था में वाणी मन में समाविष्ट हो जाती है, मन प्राण में स्थित हो जाता है, प्राण तेज में तथा (मरने के बाद) तेज पर-देवता में स्थित हो जाता है अर्थात् तेज ब्रह्म में लीन हो जाता है- **अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्** । प्रत्यक्ष में भी देखा जाता है कि बहुधा मरते समय मन के रहते भी वाणी का कार्य बन्द हो जाता है अर्थात् बोलने की शक्ति जाती रहती है ॥१ ॥

उपर्युक्त प्रसंग पर शिष्य यह जिज्ञासा करता है कि वाणी के मन में तथा मन के प्राण में समाविष्ट होने की बात तो कही गई है, पर अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया, उनके सम्बन्ध में क्या है? इसी का समाधान आचार्य अगले सूत्र में कर रहे हैं—

(४९९) अत एव च सर्वाण्यनु ॥२ ॥

सूत्रार्थ— अतएव = इसी प्रकार, च = यह भी समझना चाहिए कि, अनु = इसके (वाणी के) साथ ही सर्वाणि = सभी इन्द्रियाँ मन में लीन हो जाती हैं।

व्याख्या— श्रुति में निर्दिष्ट है कि मरणोपरान्त मन में स्थित इन्द्रियों के सहित जीव पुनर्जन्म धारण करता है- **तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः** (प्रश्नो. ३/९)। तात्पर्य यह है कि श्रुति में वर्णित इस तथ्य से यह स्पष्ट होता है कि मन में केवल वाणी ही नहीं, अन्य सभी इन्द्रियाँ भी समाविष्ट हो जाती हैं, तभी तो सभी इन्द्रियों सहित जीवात्मा पुनर्जन्म धारण करता है। मरण काल में वाक् इन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों के कार्यों का अवरुद्ध हो जाना भी इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि वाक् के साथ-साथ अन्य इन्द्रियाँ भी मन में लीन हो जाती हैं। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि श्रुति में केवल वाक् का ही नहीं, वरन् समस्त इन्द्रियों का विलीन होना वर्णित है और तथ्यतः भी ऐसा ही है ॥२ ॥

अब शिष्य की जिज्ञासा पर आचार्य यह बताते हैं कि उससे आगे क्या होता है—

(५००) तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥३ ॥

सूत्रार्थ— उत्तरात् = उसके पश्चात् के कथन से, तत् मनः = वह इन्द्रिय समाहित मन, प्राणे = प्राण में स्थित हो जाता है।

व्याख्या— सूत्र क्रमांक १ की व्याख्या में वर्णित श्रुति (छा.उ. ६/८/६) में (मनः प्राणे इत्यादि से) मन की

स्थिति के विषय में स्पष्ट है कि मन भी (इन्द्रियों के साथ) प्राण में लीन हो जाता है।

तत्पश्चात् क्या होता है, यह बताते हुए आचार्य कहते हैं—

(५०१) सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥४॥

सूत्रार्थ— तदुपगमादिभ्यः = उस (जीव के) उपगम आदि (गमन आदि) के वर्णन से स्पष्ट होता है कि, सः = वह (प्राण, मन इन्द्रियादि सहित), अध्यक्षे = अपने अध्यक्ष (स्वामी) जीवात्मा में अवस्थित हो जाता है।

व्याख्या— श्रुति में निर्दिष्ट जीवात्मा के उपगम (गमनादि) प्रकरण से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि मरने के समय वह प्राण, मन और इन्द्रियों सहित अपने स्वामी जीवात्मा में स्थित होकर बहिर्गमन कर जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् ४/४/२ में उल्लेख है- **'एकी भवति न पश्यतीत्याहुरेकी भवति .... प्राणोऽनूत्क्रामति ....समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च'** अर्थात् (मरणकाल में) शरीरस्थ प्राण जीवात्मा में समाहित एकीकृत हो जाने पर जीव देखना बन्द कर देता है। इसी प्रकार घ्राण, वाक्, रसना, कर्ण, त्वचा, मन और बुद्धि स्थित चेतना उस जीवात्मा से एकीकृत हो बहिर्गमन कर जाती है। वह प्राण शरीर के नेत्र, मस्तिष्क (ब्रह्मरन्ध्र) अथवा शरीर के अन्य किसी भाग से निकलता है।

बृह.उप. ४/३/३८ में भी इसी प्रकार का वर्णन है, जिससे सिद्ध होता है कि प्राण-मन, इन्द्रियादि सहित जीवात्मा में समाहित होता है ॥४॥

इसके बाद क्या होता है, इस जिज्ञासा का समाधान आचार्य अगले सूत्र में कर रहे हैं—

(५०२) भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥५॥

सूत्रार्थ— तच्छ्रुतेः = इससे सम्बन्धित श्रुति प्रमाण से, भूतेषु = प्राण और मन- इन्द्रियों के सहित जीव भूतों (पंचभूतों) में स्थित हो जाता है।

व्याख्या— श्रुति में वर्णित है कि जीवात्मा- पृथ्वी, जल, वायु, आकाश और तेजोमय है- **स वा अयमात्मा ....पृथिवीमय आपोमयो वायुमय ....** (बृह.उप. ४/४/५)। इससे भी यह सिद्ध है कि प्राणादि सहित शरीर से बहिर्गमन करने के बाद यह जीव पंचभूतों में स्थित हो जाता है ॥५॥

यहाँ शिष्य यह जिज्ञासा करता है कि पूर्वश्रुति में प्राण का केवल तेज में ही स्थित होना कहा गया है, तो यदि प्राण का समस्त भूतों में स्थित होना न स्वीकार कर मात्र प्राण में ही स्थित होना स्वीकार कर लिया जाये ? आचार्य इसी का समाधान अगले सूत्र में कर रहे हैं—

(५०३) नैकस्मिन्दर्शयतो हि ॥६॥

सूत्रार्थ— एकस्मिन् = केवल तेजस् तत्त्व में ही (प्राण का) स्थित होना, न = नहीं माना जा सकता, हि = क्योंकि, दर्शयतः = श्रुति-स्मृति आदि ग्रन्थ जीवात्मा का पंचभूत में स्थित होना ही दिखलाते हैं।

व्याख्या— छान्दोग्य. श्रुति ६/८/६ में वर्णित **'...........प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्'** से मृत्यूपरान्त प्राण का तेज में अवस्थित होना निर्दिष्ट है, इससे शिष्य की यह शंका है कि प्राण को तेज में स्थित ही क्यों न मान लिया जाये। इसका समाधान यह है कि प्राण के तेज में स्थित हो जाने सम्बन्धी वर्णन तो सांकेतिक हैं, वस्तुतः वह समस्त भूतों में ही स्थित होता है। पूर्व सूत्र (३/१/२) में इसका निर्णय कर दिया गया है। यह शरीर तो पंचभौतिक है, किन्तु जहाँ जिस तत्त्व की प्रधानता होती है, वहाँ मात्र उसी का कथन कर दिया जाता है। जैसे वीर्य में सभी तत्त्व समाहित रहते हैं, पर उसमें जल की अधिकता होने से वही कह दिया जाता है। बृह.उप. ४/४/५ में जीव को पृथ्वीमय, आपोमय, वायुमय आदि कहे जाने से यही सिद्ध होता है कि यह मात्र तेजस्तत्त्व में समाहित नहीं होता, वरन् पंचभूतों में सूक्ष्मतः स्थित होता है ॥६॥

उपर्युक्त शंका का समाधान हो जाने के पश्चात् शिष्य यह जिज्ञासा करता है कि मृत्युकाल की गति का यह

वर्णन सामान्य पुरुषों से सम्बन्धित है अथवा ब्रह्मज्ञानी तत्त्ववेत्ताओं से सम्बन्धित है? इसका यहाँ आचार्य निराकरण करते हैं—

(५०४) समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ॥७॥

सूत्रार्थ— आसृत्युपक्रमात् = गमन से उपक्रम तक अर्थात् देवयान मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक में गमन का क्रम प्रारम्भ होने तक, समाना = दोनों (सामान्य जन और ब्रह्मज्ञानी) की गति समान, च = ही है, च = क्योंकि, अनुपोष्य = सूक्ष्म शरीर को अनुपोषित (सुरक्षित) रखकर ही, अमृतत्वम् = ब्रह्मलोक में अमृतत्व(मोक्ष) लाभ प्राप्त होना (ब्रह्मविद्या का फल) कहा गया है।

व्याख्या— मोक्ष के योग्य ज्ञानीजनों एवं सामान्यजनों-दोनों को ही शरीर त्याग कर सूक्ष्म शरीर में जाने तक की मरणोत्तर गति एक जैसी ही है। कारण यह है कि ब्रह्मलोक में जाने और अन्यलोकों व अन्य शरीरों में जाने के लिए सूक्ष्म शरीर की आवश्यकता होती है। अत: स्थूल शरीर में से निकलकर सूक्ष्म शरीर में जाने तक दोनों की गति समान रहती है। इस प्रकार उपर्युक्त स्थिति तक सूक्ष्म शरीर का सुरक्षित रहना आवश्यक होता है, क्योंकि उसी से अमृतत्व (मोक्ष) की प्राप्ति व अन्य लोकों में गमन एवं पुनर्जन्म सम्भव है ॥७॥

अब शिष्य जिज्ञासा करता है कि पूर्व (प्रथम सूत्र की व्याख्या) में जो यह कहा है कि वह तेज-जीवात्मा, मन, इन्द्रियों के सहित पर-देवता में स्थित हो जाता है, तो यह सभी की जीवात्माओं के लिए कैसे सम्भव है, क्योंकि यह सामान्य मनुष्यों की मरणोत्तर गति का प्रसङ्ग है। सभी प्रकार की जीवात्माएँ परदेवता अर्थात् परमात्मा को प्राप्त हो जाएँ, यह असम्भव है, अत: स्पष्ट करें। आचार्य इसी का समाधान करते हुए कहते हैं—

(५०५) तदाऽपीतेः संसारव्यपदेशात् ॥८॥

सूत्रार्थ— संसारव्यपदेशात् = सामान्य जीवों का मृत्यु के पश्चात् बारम्बार जन्म धारण करने का कथन होने से, तत् = उनका वह (सूक्ष्म) शरीर, अपीतेः = मुक्तावस्था या ब्रह्म प्राप्ति तक रहता है (अत: नया शरीर मिलने तक परमात्मा में अवस्थित रहना प्रलयकाल जैसा है)।

व्याख्या— विगत प्रकरण (सूत्र क्रमांक १) में एक शरीर की मृत्यु के पश्चात् दूसरे शरीर में जाने वाले जीवात्मा का परदेवता में स्थित होना वर्णित है, वह वस्तुत: उस प्रकार का है, जैसे- प्रलयकाल में कर्म संस्कार और सूक्ष्म शरीर सहित जीव अज्ञानतापूर्वक परमात्मा में स्थित रहता है; किन्तु इस स्थिति को परमात्मा की प्राप्ति नहीं कह सकते। यह स्थिति तब तक बनी रहती है, जब तक जीवात्मा को उसके कर्मफल भोग के लिए उपयुक्त शरीर नहीं मिल जाता। श्रुति में भी यह तथ्य- निर्दिष्ट है। **'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः' इत्यादि श्रुति वचन** (कठो. २/२/७) से जीवात्मा के पुनर्जन्म की पुष्टि होती है। तात्पर्य यह है कि जब तक जीवात्मा को दूसरा शरीर नहीं मिलता अथवा जब तक उसे मोक्ष नहीं मिलता, तब तक उसका सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध बना रहता है ॥८॥

विगत सूत्रों में मरणोपरान्त जीवात्मा का जिन भूतों में स्थित होना कहा गया है, वे वस्तुत: सूक्ष्मभूत हैं, पर वहाँ स्पष्ट नहीं है, अत: यहाँ इसे स्पष्ट करते हैं—

(५०६) सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥९॥

सूत्रार्थ— प्रमाणत: = श्रुति प्रमाण से, च = तथा, तथोपलब्धेः = उस प्रकार की उपलब्धि होने से भी यही सिद्ध होता है कि, सूक्ष्मम् = भूत समुदाय सूक्ष्म है।

व्याख्या— विगत सूत्रों में मरणकाल व इसके उपरान्त पृथ्वी, आकाश, जल, तेज और वायु नामक भूतों में जीवात्मा का स्थित होना कहा गया है, पर वास्तव में वे सूक्ष्मभूत हैं, स्थूल नहीं। श्रुति प्रमाण से भी यही तथ्य सिद्ध होता है। श्रुति में जीवात्मा के परलोक गमन के प्रकरण में उल्लेख है कि जीवात्मा के हृदय में एक सौ

एक नाड़ियाँ हैं। जिनमें से एक (सुषुम्रा) के द्वारा निकलने वाले जीवात्मा को अमृतत्व प्राप्त होने का तथ्य निर्दिष्ट है (**शतं चैका च हृदयस्य .... उत्क्रमणे भवन्ति** (कठो. २/३/१६) अन्य नाड़ियों में से निकलने वाला प्राण (जीवात्मा) कामनाओं के अनुसार जन्म धारण करता है।

उपर्युक्त प्रसङ्ग में जो नाड़ियों द्वारा जीवात्मा के निकलने की बात है, वह सूक्ष्म भूतों द्वारा ही सम्भव है, स्थूल भूतों द्वारा नहीं। दूसरी बात यह है कि मरणासन्न व्यक्ति के प्राण निकलते हुए किसी को दिखते भी नहीं। इससे भी उन भूतों के सूक्ष्म होने की पुष्टि होती है। अस्तु , श्रुति व प्रत्यक्ष दोनों ही प्रमाणों से जीवात्मा का सूक्ष्म भूतों में ही स्थित होना सिद्ध होता है ॥९ ॥

उसी बात को अब अन्य प्रकार से स्पष्ट करते हैं—

(५०७) नोपमर्देनात: ॥१० ॥

सूत्रार्थ— अत: = ये पंचभूत सूक्ष्म होते हैं, इसी कारण, उपमर्देन = इस शरीर के उत्पीड़न (दाह क्रिया, तोड़ने, डुबोने आदि) से , न = (सूक्ष्म शरीर) विनष्ट नहीं होता।

व्याख्या— मरणकाल में जीवात्मा जिन भूतों में स्थित होता है, वे सूक्ष्म हैं। इसी कारण तो (मरणोपरान्त) इस स्थूल शरीर को जलाने, डुबोने आदि से सूक्ष्म शरीर का कुछ भी नुकसान नहीं होता और न ही कोई कष्ट होता है। सूक्ष्म शरीर में स्थित होकर जीवात्मा इस स्थूल शरीर का परित्याग कर देता है। इससे स्पष्ट है कि मरणकाल में जीवात्मा जिन आकाशादि पंचभूतों में स्थित होता है, वे सूक्ष्म ही हैं, स्थूल नहीं ॥१० ॥

अब इसी कथन की पुष्टि करते हुए आगे कहते हैं—

(५०८) अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा ॥११ ॥

सूत्रार्थ— एष: = यह, ऊष्मा = गर्मी (जो जीवित शरीर में होती है), अस्य = इसी सूक्ष्म शरीर की, एव = ही है, च = और, उपपत्ते: = युक्ति से भी (यही सिद्ध होता है; क्योंकि सूक्ष्म शरीर के बहिर्गमन कर जाने पर स्थूल शरीर शीतल हो जाता है)।

व्याख्या— जब जीवात्मा सूक्ष्म शरीर के साथ स्थूल शरीर से बहिर्गमन कर जाती है, तब स्थूल शरीर में गर्मी नहीं रहती। यद्यपि वह ज्यों का त्यों दिखता रहता है, तथापि वह शीतल हो जाता है। इस युक्ति से इस बात को भली-भाँति समझा जा सकता है कि जीवित शरीर में जो गर्मी होती है, वह सूक्ष्म शरीर की ही होती है। इसी कारण सूक्ष्म शरीर के निकल जाने पर शरीर में गर्मी नहीं रहती और शरीर ठंडा हो जाता है ॥११ ॥

अब शिष्य जिज्ञासा करता है कि ऐसे महापुरुष जिनके सभी संकल्प, सभी कामनाएँ, सभी वासनाएँ समाप्त हो चुकी हैं, जिन्हें इसी जीवन में ब्रह्म की प्राप्ति हो चुकी है, उनकी मरणोत्तर गति क्या होती है, क्योंकि श्रुति में ऐसे पुरुषों के गमन का निषेध निर्दिष्ट है। आचार्य समाधान करते हैं—

(५०९) प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥१२ ॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि कहो कि, प्रतिषेधात् = प्राण के उत्क्रमण का निषेध होने से (उसका गमन नहीं होता), इति न = तो यह कहना उचित नहीं है, शारीरात्, = क्योंकि, उस निषेध वचन से जीवात्मा से प्राणों के पृथक् होने का प्रतिषेध किया गया है।

व्याख्या— श्रुति (बृह.उप. ४/४/६) उद्धरण पूर्वक शिष्य अपना पक्ष रखता है कि जो पुरुष कामना रहित, वासना रहित एवं जीवन्मुक्त हो जाते हैं, ऐसे पुरुषों के प्राण उत्क्रमण नहीं करते। उपर्युक्त श्रुति में पूर्णकामी महापुरुष की गति का अभाव निर्दिष्ट होने से यही सिद्ध होता है कि वे ब्रह्मलोक में भी नहीं जाते, फिर उनकी मरणोत्तर गति क्या होती है? इसका निराकरण करते हुए आचार्य उस श्रुति का आशय स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि आपका (शिष्य का) यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि उस श्रुति में जीवात्मा का प्राण से पृथक् होने

का निषेध निर्दिष्ट है, न कि शरीर से प्राण के उत्क्रमण का निषेध। अस्तु, उपर्युक्त श्रुति प्रसङ्ग से गमन का निषेध पुष्ट नहीं होता, वरन् जीवात्मा के प्राणों सहित ब्रह्मलोक में गमन की पुष्टि होती है॥१२॥

अब शिष्य अपना पक्ष पुनः रखते हुए कहता है—

(५१०) स्पष्टो ह्येकेषाम्॥१३॥

सूत्रार्थ— एकेषाम् = एक शाखा वालों की श्रुति में, स्पष्टः = स्पष्ट रूप से शरीर से प्राणों के निष्क्रमण न करने की बात कही है, हि = इसलिए (सिद्ध होता है कि उसका गमन नहीं होता)।

व्याख्या— अन्य शाखा के उपनिषदों (नृसिंह.उप. ५ तथा बृह.उप. ४/४/७) में स्पष्ट उल्लेख है कि आप्तकाम महापुरुष के प्राण उत्क्रमण नहीं करते। वे (प्राण) वहीं ब्रह्म में विलय हो जाते हैं और वह (जीवात्मा) ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार 'वह यहीं ब्रह्म की प्राप्ति कर लेता है' आदि। बृहदारण्यकोपनिषद् में अन्यत्र यह उल्लेख है कि याज्ञवल्क्य से इस प्रश्न का, कि मरने वाले (मोक्षाधिकारी) के प्राण पृथक् होते हैं कि नहीं, यह उत्तर मिला कि 'नहीं'। इसका अभिप्राय यही निकलता है कि मोक्षाधिकारी के प्राण उत्क्रमण का विधान नहीं है। वह इसी जगत् में ब्रह्म की प्राप्ति कर लेता है। अस्तु, जीवन्मुक्त महापुरुष के गमन का निषेध सिद्ध होता है॥१३॥

अब स्मृति के प्रमाण से भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं—

(५११) स्मर्यते च॥१४॥

सूत्रार्थ— च = तथा, स्मर्यते = स्मृति से भी (इसी तथ्य की पुष्टि होती है)।

व्याख्या— अनेक स्मृति प्रमाणों से भी यही सिद्ध होता है कि ब्रह्मज्ञानी को इसी जीवन में ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव है। प्रस्थानत्रयी के स्मृतिग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता में अनेकशः इस तथ्य का उल्लेख हुआ है। जैसे- जो मोह को नष्ट कर चुके हैं, जो न प्रिय को पाकर हर्षित होते हैं और न अप्रिय को पाकर उद्विग्न ही होते हैं, ऐसे ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म में ही स्थित होते हैं, इसी प्रकार सर्वभूतहितरत तथा नष्टपाप, संशयहीन पुरुष, जितेन्द्रिय महापुरुष शान्त ब्रह्म को प्राप्त हैं आदि (गी. ५/२०,२६)। स्मृति में स्थान-स्थान पर महापुरुषों द्वारा जीवनकाल में ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेने का तथ्य उपन्यस्त है। गमन के प्रकरण में भी शरीर से सूक्ष्म तत्त्वों सहित प्रस्थान का वर्णन है(गी. १५/७-८)। इससे यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म को प्राप्त पुरुषों का किसी परलोक में गमन नहीं होता। वे सदा ब्रह्ममय ही रहते हैं॥१४॥

अब शिष्य जिज्ञासा करता है कि जो परमात्मा को प्राप्त हैं, उनका यदि परलोक में गमन नहीं होता, तब शरीर विनष्ट होने के समय वे कहाँ निवास करते हैं? आचार्य अगले सूत्र में समाधान कर रहे हैं—

(५१२) तानि परे तथा ह्याह॥१५॥

सूत्रार्थ— तानि = वे सब (प्राण, पाँच सूक्ष्मभूत, अन्तःकरण एवं इन्द्रियाँ आदि), परे = परब्रह्म में (विलीन हो जाते हैं), हि = क्योंकि, तथा = ऐसा, आह = कहा गया है(श्रुति में निर्दिष्ट है)।

व्याख्या— जिस महापुरुष ने जीवनकाल में ही परब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है, वह सदा परमात्मा में ही स्थित रहता है, उससे कभी पृथक् होता ही नहीं। तथापि लौकिक दृष्टि से शरीर में रहते हुए सभी कार्य करता है, किन्तु जब उसका प्रारब्ध पूरा हो जाता है, तब शरीर मरण को प्राप्त हो जाता है। मृत्यु के समय वह (जीवात्मा) समस्त कलाओं, इन्द्रियों और अन्तःकरण सहित परब्रह्म में विलीन हो जाता है। मुण्डक. ३/२/७ में उल्लेख है कि शरीरपात के समय कलाएँ, मन एवं इन्द्रियों के देवता- अपने-अपने अधिष्ठातृ देवता में समा जाते हैं, उनसे जीवन्मुक्त का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। तत्पश्चात् विज्ञानमय जीव अपने समस्त कर्मों और इन्द्रियों के अभिमानी देवताओं सहित परब्रह्म में ही समाहित हो जाता है॥१५॥

अब शिष्य की इस जिज्ञासा पर कि शरीर सम्बन्धी विभिन्न तत्त्वों सहित ब्रह्मज्ञानी महापुरुष ब्रह्म में किस प्रकार स्थित होता है, आचार्य कहते हैं—

(५१३) अविभागो वचनात्॥१६॥

सूत्रार्थ— वचनात् = श्रुति वचन से भी (यही सिद्ध होता है कि), अविभाग: = (परमात्मा में स्थित होने पर महापुरुषों के शरीर सम्बन्धी तत्त्वों का) विभाग नहीं रहता।

व्याख्या— श्रुति वचन में यह तथ्य निर्दिष्ट है कि महापुरुष शरीर के मरणोपरान्त परम दिव्य पुरुष परमात्मा में शरीर संबंधी समस्त तत्त्वों सहित, विभाग रहित होकर उसी प्रकार विलीन हो जाते हैं जिस प्रकार प्रवहमान नदियाँ अपना नाम रूप त्यागकर समुद्र में मिल जातीं और समुद्र रूप हो जाती हैं। प्रश्नोपनिषद् ६/५ में इससे सम्बन्धित मंत्र इस प्रकार है- **स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य .... पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति ...... तदेषश्लोकः।** इसी प्रकार मुण्डक उपनिषद् ३/२/८ (**यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। ....पुरुषमुपैति दिव्यम्।**) में भी यही तथ्य उपन्यस्त है। अत: यही सिद्ध होता है कि महापुरुष मृत्यूपरान्त विभाग रहित होकर परमात्मा में एकाकार हो जाते हैं॥१६॥

विगत सूत्र में उन महापुरुषों की गति का वर्णन किया गया, जिन्हें इसी जीवन में ब्रह्म साक्षात्कार हो जाता है और वे शरीरपात के पश्चात् यहीं ब्रह्म में लीन हो जाते हैं, अब पुन: ब्रह्मलोक में जाने वाले महापुरुषों की गति पर विचार करते हैं—

(५१४) तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया॥१७॥

सूत्रार्थ— तदोकोऽग्रज्वलनम् = उस जीव का (मरण काल में) हृदय का अग्रभाग प्रकाशित हो जाता है, तत्प्रकाशितद्वार: = उस प्रकाश से जिसका निर्गमद्वार प्रकाशित हो गया है, ऐसा वह ब्रह्मज्ञानी, विद्या सामर्थ्यात् = ब्रह्म विद्या की सामर्थ्य से, च = तथा, तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगात् = उस विद्या का अवशिष्ट अंग जिसे ब्रह्मलोक में जाना है, उस गमन विषयक संस्कार की स्मृति के योग द्वारा, हार्दानुगृहीत: = हृदय स्थित परमेश्वर के अनुग्रह से अनुगृहीत हुआ, शताधिकया = सौ नाड़ियों से अधिक अर्थात् एक सौ एकवीं नाड़ी (सुषुम्ना) के द्वारा (ब्रह्मरन्ध्र से) गमन करता है।

व्याख्या— बृहदारण्यक श्रुति ४/४/२ (**एकी भवति न पश्यतीत्याहु.......... पूर्व प्रज्ञा च**) में वर्णन है कि मरणासन्न मनुष्य की इन्द्रियाँ, प्राण और अन्त:करण लिङ्ग शरीर में एकीकृत हो जाने पर हृदय के अग्रभाग में एक प्रकाश उत्पन्न होता है। उस प्रकाश से जीवात्मा के निर्गम द्वार के प्रकाशित होने तथा उसमें से ब्रह्मलोक गमन का तथ्य भी निर्दिष्ट है। उल्लेख है कि स्तर के अनुरूप जीवात्मा के शरीर में से निकलने के मार्ग पृथक् - पृथक् हैं। छान्दोग्य श्रुति ८/६/६ में हृदय में एक सौ एक नाड़ियाँ होने व उनमें से सौ में से होकर जाने वाले जीवात्मा के विभिन्न योनियों में जाकर शरीर धारण करने तथा एक जो ऊपर को जाती है (सुषुम्ना नाड़ी) उसमें से जाने वाले जीवात्मा द्वारा अमृतत्व प्राप्त करने का तथ्य उपन्यस्त है।

इन श्रुति वचनों से यह सिद्ध होता है कि वह ब्रह्मज्ञानी महापुरुष हृदयाग्र में प्रकाशित प्रकाश से उज्ज्वल ब्रह्मरन्ध्र मार्ग से गमन करता है एवं ब्रह्मविद्या की सामर्थ्य के फलस्वरूप ब्रह्मलोक प्राप्ति के संस्कार के स्मरण से सम्पन्न होकर हृदय में विद्यमान परब्रह्म परमेश्वर की कृपा से अनुगृहीत हुआ (सूर्य की किरणों में) गमन कर जाता है॥१७॥

तत्पश्चात् क्या होता है? इस जिज्ञासा के समाधान हेतु आगे कहते हैं—

(५१५) रश्म्यनुसारी ॥१८॥

सूत्रार्थ— रश्म्यनुसारी = सूर्य रश्मियों (में स्थित होकर उन) का अवलम्बन लेकर (विद्वान् पुरुष) गमन कर जाता है (अर्थात् सूर्य लोक के द्वार से ब्रह्मलोक में पहुँच जाता है)।

व्याख्या— विद्वान् पुरुष की जीवात्मा मूर्धन्यनाड़ी से ऊर्ध्वगमन करके सूर्य रश्मियों (किरणों) में स्थित होकर उनके द्वारा ऊपर को चढ़ता हुआ मन की गति से पहले सूर्यलोक में जाती है, तत्पश्चात् ब्रह्मलोक में पहुँच जाती है। छान्दोग्य श्रुति ८/६/५ के अनुसार ब्रह्मलोक जाने का यह सूर्य लोक का द्वार मात्र विद्वानों (ब्रह्मज्ञानियों) के लिए खुलता है; जबकि अज्ञानियों के लिए यह द्वार बन्द रहता है और वे अधोगति को प्राप्त होते अर्थात् निम्न लोकों में जाते हैं ॥१८॥

अब शिष्य के यह प्रश्न करने पर कि यदि विद्वान् के शरीर का पात रात्रि में होता है, तब उसकी क्या गति होती है, क्योंकि रात्रि के समय तो सूर्य की किरणें नहीं रहतीं, आचार्य समाधान करते हैं—

(५१६) निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च ॥१९॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि यह कहो कि, निशि = रात्रि में, न = सूर्य की किरणें नहीं होतीं (और उनका सम्बन्ध नाड़ियों से नहीं होता होगा), इति न = तो इस प्रकार कहना ठीक नहीं, हि = क्योंकि, सम्बन्धस्य = नाड़ी एवं सूर्य किरणों के सम्बन्ध की, यावद्देहभावित्वात् = शरीर रहने तक, सत्ता बनी रहती है (अर्थात् दिन हो या रात हर समय सूर्य किरणों और नाड़ियों का सम्बन्ध बना रहता है), दर्शयति च = यही बात देखी जाती है या श्रुति भी दिखाती है।

व्याख्या— यदि कोई कहे कि विद्वान् व्यक्ति का रात्रि में शरीरपात होने पर तो (रात्रि में सूर्य रश्मियों के न होने से)सूर्य लोक और ब्रह्मलोक में गमन नहीं होता होगा, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि श्रुति (छान्दोग्योपनिषद् ८/६/२) में निर्दिष्ट है कि सूर्यलोक से निकलती हुई किरणें मानवदेह की नाड़ियों में भी व्याप्त हैं और वहाँ से निकलती हुई सूर्यलोक तक विस्तृत हैं या यों कहें कि सूर्य रश्मियाँ इस लोक और सूर्यलोक दोनों में निरन्तर गमन करती रहती हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि सूर्य की किरणों का सूर्यलोक और शरीर की नाड़ियों से निरन्तर सम्पर्क बना रहने से किसी भी समय (रात्रि हो या दिन) मृत्यु होने पर ब्रह्मज्ञानी सूर्यलोक और तत्पश्चात् ब्रह्मलोक में चला जाता है। उसके ब्रह्मलोक गमन में दिन या रात्रि की कोई बाधा नहीं है ॥१९॥

अब शिष्य जिज्ञासा करता है कि सूर्य के दक्षिणायन होने पर भी क्या विद्वान् ब्रह्मलोक में गमन कर पाता है? आचार्य समाधान करते हैं—

(५१७) अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॥२०॥

सूत्रार्थ— अतः = इस पूर्व वर्णित कारण से, च = ही, दक्षिणे = दक्षिण, अयने = अयन (गति) में, अपि = भी (विद्वान् व्यक्ति के मृत होने पर ब्रह्मलोक जाने में कोई बाधा नहीं है)।

व्याख्या— पूर्व सूत्र में जिस प्रकार सूर्य की रश्मियों का रात्रिकाल में भी नाड़ी समूह से सम्बद्ध रहना निर्दिष्ट है, उसी के अनुसार दक्षिणायन काल में भी सूर्य रश्मियों के उपलब्ध होने में कोई बाधा न होने से विद्वान् सूर्यलोक के मार्ग से ब्रह्मलोक को गमन कर सकता है। अस्तु, यह स्पष्ट है कि दक्षिणायन काल में मृत्यु को प्राप्त होने वाला विद्वान् ब्रह्मविद्या की सामर्थ्य से सूर्यद्वार से ब्रह्मलोक में चला जाता है ॥२०॥

अब शिष्य की इस जिज्ञासा पर कि स्मृतिग्रन्थों, गीता आदि में उत्तरायण और दक्षिणायन नामक जो दो काल बताये गये हैं, उनमें उत्तरायण को अपुनरावृत्ति कारक तथा दक्षिणायन को पुनरावृत्ति कारक कहा गया है, फिर यह कैसे

मान लिया जाय कि दिन हो या रात्रि, उत्तरायणकाल हो या दक्षिणायनकाल किसी भी स्थिति में ब्रह्मज्ञानी शरीर त्याग करने पर ब्रह्मलोक को ही प्राप्त होता है। इसी के समाधान स्वरूप आचार्य कहते हैं—

(५१८) योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते ॥२१॥

सूत्रार्थ— च = इसके अतिरिक्त, योगिनः = योगी के, प्रति = लिए, स्मर्यते = स्मृतियों में कहा गया है, च = तथा, एते = ये दोनों गतियाँ (पुनरावृत्ति और अपुनरावृत्ति वाले दोनों मार्ग), स्मार्ते = स्मार्त हैं।

व्याख्या— प्रस्थानत्रयी के स्मृति ग्रन्थ श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में ८/२३-२६ तक उत्तरायण और दक्षिणायन काल का वर्णन करते हुए इनमें शरीर त्याग करने वालों को देवयान और पितृयान मार्गों द्वारा देवलोक और पितृलोक में जाने का उल्लेख किया गया है। भीष्म पितामह के भी दक्षिणायन काल में शरशय्यासीन होने की स्थिति में मृत्यु का वरण करने के लिए योगबल पर उत्तरायणकाल की प्रतीक्षा का उल्लेख महाभारत में है। वास्तव में ये दोनों गतियाँ योगियों के लिए स्मृतियों में वर्णित हैं; परन्तु ब्रह्मज्ञान का माहात्म्य तो अपार है, उसके द्वारा साधक को ब्रह्मलोक में जाने के लिए उत्तरायण काल या दक्षिणायन काल की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती अथवा यों कहें कि ये काल ब्रह्मज्ञानी साधक के ब्रह्मलोक जाने के मार्ग में कोई बाधा उपस्थित नहीं कर सकते। भीष्म पितामह का उदाहरण तो उनके लिए माना जाना चाहिए, जो उत्तरायण-दक्षिणायन जैसे काल विशेष को महत्त्वपूर्ण मानते हैं अथवा भीष्म पितामह आदि महापुरुषों के उत्तरायण की प्रतीक्षा का यह अभिप्राय भी हो सकता है की भीष्म अष्ट वसुओं में से एक थे। चूँकि उन्हें देवलोक में पहुँचना था और दक्षिणायन के समय देवलोक में रात्रि रहने के कारण उत्तरायण काल में ही जाना उन्हें अभीष्ट था। अतः योगबल से उन्होंने वह काल आने की प्रतीक्षा की थी। इन काल विशेषों में गमन का वर्णन स्मृतियों में होने से यह प्रतिपादन स्मार्तों के लिए है, जो श्रुति मार्ग से भिन्न है ॥२१॥

॥ इति चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ॥

॥ अथ चतुर्थाध्याये तृतीयः पादः ॥

द्वितीय पाद में सूत्रकार ने स्पष्ट किया कि ब्रह्मलोक गमन हेतु मार्ग के शुरू होने से पूर्व तक की गति (वाणी का मन में विलीन होना इत्यादि) ज्ञानी एवं अज्ञानी दोनों के लिए एक जैसी ही है। अज्ञानी अपने कर्म के अनुसार पुनः नवीन देह ग्रहण करता है और ज्ञानीजन ज्ञान से विभूषित मोक्ष-नाड़ी-द्वार का आश्रय प्राप्त कर सूर्य-रश्मियों के सहयोग से सूर्यलोक में होते हुए ब्रह्मलोक में पहुँच जाते हैं। ब्रह्मलोक में जाने का जो मार्ग है,उसका उल्लेख कहीं अर्चिमार्ग, कहीं उत्तरायण और कहीं देवयान मार्ग के नाम से मिलता है। अतः जिज्ञासा यह होती है कि उपासना एवं अधिकारी के भेद से ये सभी मार्ग पृथक्-पृथक् हैं अथवा एक ही मार्ग के ये सभी नाम हैं ? इसके अलावा मार्ग में कहीं पर तो विविध देवों के लोकों का उल्लेख आता है, तो कहीं दिन, पक्ष, माह, अयन एवं संवत्सर आदि का और कहीं मात्र सूर्य रश्मियों द्वारा सूर्यलोक का उल्लेख मिलता है। यह उल्लेख- भेद एक मार्ग मान लेने से कैसे सुसंगत होगा ? अतः इसी विषय के समाधान हेतु आचार्य तृतीय पाद का शुभारम्भ करते हैं—

(५१९) अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥१ ॥

सूत्रार्थ— अर्चिरादिना = अर्चि आदि से शुरू होने वाले एक ही मार्ग से (ज्ञानीजन ब्रह्मलोक को प्रस्थान करते हैं), तत्प्रथितेः = क्योंकि ज्ञानीजनों के लिए यह एक ही मार्ग (भिन्न-भिन्न नामों से) प्रख्यात है।

व्याख्या— श्रुति में ब्रह्मज्ञानियों के लिए ब्रह्मलोक में गमन हेतु जिन विभिन्न (अर्चि, देवयान, उत्तरायण आदि) नामों से मार्गों का उल्लेख मिलता है, वह एक ही मार्ग है, अनेक नहीं। उस मार्ग का प्रख्यात नाम अर्चिः आदि है, क्योंकि वह अर्चि से ही शुरू होने वाला मार्ग है। इस मार्ग से ही ब्रह्मलोक गमन करने वाले साधक प्रस्थान करते हैं। इसी मार्ग का देवयान, उत्तरायण आदि नामों से श्रुतियों में उल्लेख किया गया है। मार्ग में आने वाले लोकों का जो उल्लेख मिलता है, वह कहीं कम व कहीं अधिक हुआ है। उन स्थलों में जहाँ जिस लोक का वर्णन नहीं है, वहाँ उसका अन्यत्र के वर्णन से अध्याहार कर लेना चाहिए। छा.उ.(५/१०/१-२) में 'अर्चि' पद का अर्थ किरण- 'सूर्यरश्मि' किया गया है। यहाँ वर्णन आया है कि अर्चि से लेकर विद्युत् पर्यन्त मार्ग के संकेत हैं। इन्हीं का अनुगमन करता हुआ उपासक ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। 'रश्म्यनुसारी' (वेदान्त ४/२/२८) सूत्र में ज्ञानी की जिस गति का वर्णन है, उसी का यहाँ पर सूत्रकार ने विस्तार किया है। बृह.उ. ६/२/१५, छान्दोग्य. ४/१५/४-५ में और कौ.उ. १-३ में भी देवयान मार्ग का उल्लेख मिलता है। इससे श्रुतियों में ज्ञानियों की गति के इस एक ही मार्ग की प्रसिद्धि का पता चलता है। उक्त सभी प्रमाणों से ब्रह्मज्ञानी का अर्चिरादि मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक गमन करना सिद्ध होता है ॥१ ॥

एक स्थल पर वर्णित लोकों का अन्यत्र किस तरह अध्याहार करना चाहिए ? अगले सूत्र में सूत्रकार इसी जिज्ञासा का समाधान करते हैं—

(५२०) वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥२ ॥

सूत्रार्थ— वायुम् = वायुलोक को, अब्दात् = संवत्सर के पश्चात् (और सूर्य के पहले समझें), अविशेषविशेषाभ्याम् = क्योंकि वायु का उल्लेख कहीं सामान्यभाव से और कहीं पर विशेषभाव से हुआ है।

व्याख्या— वायुलोक का उल्लेख प्रमुखतः दो श्रुतियों में मिलता है। कौषीतकि उपनिषद् (१.३) में तो मात्र लोकों का नाम ही आया है, सविशेष क्रमिक स्पष्टीकरण नहीं किया गया है, यथा- वह (प्राणी) देवयान मार्ग से अग्निलोक में, पुनः वायु, सूर्य, वरुण, इन्द्र एवं प्रजापति लोकों में होता हुआ ब्रह्मलोक में पहुँचता है; परन्तु बृह.उ. ५/१०/१ में वायुलोक से सूर्यलोक में जाने का स्पष्ट उल्लेख हुआ है, देखें- 'प्राणी इस लोक से ब्रह्मलोक को जाता है और तभी वह वायुलोक को प्राप्त करता है, वायु उसे रथ-चक्र के छिद्रवत् मार्ग देता है। उस पथ से उत्क्रमण करता हुआ पुनः सूर्य को प्राप्त होता है। वहाँ उसे सूर्य 'लम्बर' नामक वाद्य में रहने वाले

छिद्र की भाँति मार्ग प्रदान करता है, उस मार्ग से ऊर्ध्व में जाकर चन्द्रमा को प्राप्त होता है। चन्द्रमा उसे नगारे के छिद्र की भाँति मार्ग दे देता है। उस मार्ग से ऊपर उठकर वह ब्रह्म को पा लेता है, वहाँ वह अनन्तकाल तक वास करता है।' छान्दोग्योपनिषद् ५/१०/१-२ में अग्नि की जगह तो अर्चि कहा गया है, किन्तु वहाँ वायुलोक का उल्लेख नहीं है, देखें- 'ब्रह्मविद्या के रहस्य को जानते हुए जो वन में रहते हुए सत्य की उपासना करते हैं, वे अर्चि (ज्योति, अग्नि या सूर्य-रश्मि) को पाते हैं। अर्चि से दिन को, दिन से शुक्लपक्ष को, शुक्लपक्ष से उत्तरायण के छः मास को, छः माह से संवत्सर को, संवत्सर से सूर्य को , सूर्य से चन्द्रमा को एवं चन्द्रमा से बिजली को और फिर वहाँ से अमानव पुरुष इन्हें ब्रह्म के पास पहुँचा देता है। यही देवयान मार्ग है। यहाँ श्रुति में वायुलोक के प्राप्त होने का कहीं पर भी उल्लेख नहीं हुआ है, किन्तु बृहदारण्यक उप. ५/१०/१ में सूर्यलोक की प्राप्ति से पहले वायुलोक का प्राप्त होना कहा गया है। अतः यह सिद्ध होता है कि वायुलोक को संवत्सर के बाद एवं सूर्यलोक से पहले ही प्राप्त होता है, यही समझना उचित प्रतीत होता है॥२॥

'अर्चि' आदि मार्ग में वरुण, इन्द्र एवं प्रजापति आदि लोकों का उल्लेख नहीं मिलता। इन्हें किस लोक के बाद मानना चाहिए? अगले सूत्र में आचार्य इसी जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत करते हैं—

(५२१) तडितोऽधि वरुणः सम्बन्धात्॥३॥

सूत्रार्थ— तडितः = विद्युत् से, अधि = ऊपर, वरुणः = वरुण लोक को जानें, सम्बन्धात् = क्योंकि उन दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

व्याख्या— छान्दोग्योपनिषद् ४/१५/५ में वर्णन आता है कि आदित्य से चन्द्रमा एवं चन्द्रमा से विद्युत् की प्राप्ति होती है। विद्युत् से वरुण का घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि वरुण जल का स्वामी है और विद्युत् का जल से सर्वाधिक निकटतम सम्बन्ध है। जल से विद्युत् की और विद्युत् से जल का उद्‌भव भी प्रसिद्ध है। जब विद्युत् प्रचण्ड गर्जन कर जल को मथती है, तभी वर्षा होती है और वर्षा के जल का स्वामी वरुण है, इससे भी विद्युत् और वरुण (जल) का निकटतम सम्बन्ध सिद्ध होता है। अतः विद्युत् के ऊपर वरुणलोक का होना ही उचित है। वरुण के पश्चात् इन्द्र एवं प्रजापति आदि लोकों की स्थिति भी उक्त श्रुति में कहे हुए क्रम के अनुसार मान लेनी चाहिए। इससे सभी श्रुतियों की समानता हो जाएगी तथा एक मार्ग को मान लेने में किसी भी तरह का कोई अवरोध भी नहीं होगा॥३॥

अब जिज्ञासा यह होती है कि अर्चि आदि मार्ग में जो अर्चि, अहः, पक्ष, अयन, संवत्सर, वायु एवं विद्युत् आदि कहे गये हैं, वे सभी जड़ हैं या चेतन? सूत्रकार अगले सूत्र में इसी का समाधान दे रहे हैं—

(५२२) आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्॥४॥

सूत्रार्थ— आतिवाहिकाः = वे सभी साधक (प्राणी) को एक स्थल से दूसरे स्थल तक पहुँचाने वाले उन-उन लोकों के अभिमानी मानव हैं, तल्लिङ्गात् = क्योंकि श्रुति में वैसा ही स्वरूप (लक्षण) पाया जाता है।

व्याख्या— अर्चि, अहः, पक्ष, अयन, संवत्सर आदि शब्दों के द्वारा प्रतिपादित होने वाले ये सभी उन-उन नाम एवं लोकों के अभिमानी देव अथवा मानव आकृति वाले अमानव पुरुष हैं। इन अमानव पुरुषों का कार्य ब्रह्मलोक में गमन करने वाले साधकों को एक स्थल से दूसरे स्थल तक पहुँचा देना ही है। छा.उ. ४/१५/५ में भी वर्णन आता है कि 'चन्द्रमा से विद्युत् आदि तथा वहाँ से ब्रह्म को प्राप्त कराने वाला अमानव (मानव से परे) पुरुष है'। इसी कारण से इन्हें आतिवाहिक कहते हैं। विद्युत् लोक में जाने के पश्चात् अमानव पुरुष उस साधक को ब्रह्म को प्राप्त करा देता है। उस अभिमानी देव के लिए जो अमानव विशेषण दिया गया है, उससे सिद्ध होता है कि उसके पहले जो अर्चि आदि को प्राप्त करना बतलाया गया है, वे उन लोकों के अभिमानी देव (मानवाकार पुरुष) हैं। वे हैं तो दिव्य, फिर भी उनका आकार-प्रकार मनुष्यों जैसा ही है। उक्त श्रुति में

वर्णित 'गमयति' शब्द से प्राप्त करना या चलना समझना चाहिए। इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'अर्चिरादि' से गमन कराने वाले उनके अभिमानी देव हैं, जो उत्क्रमण करते हुए ज्ञानी साधक के गमन में सहयोग प्रदान करते हैं ॥४॥

अब जिज्ञासा होती है कि अभिमानी देवता मानने की क्या जरूरत है ? अगले सूत्र में आचार्य इसी जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत करते हैं—

(५२३) उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ॥५॥

सूत्रार्थ— उभयव्यामोहात् = आतिवाहिक और मुमुक्षु दोनों के मोहयुक्त होने का वर्णन आता है, तत्सिद्धेः = अतः उनको (आतिवाहिक) को अभिमानी देवता मानने से ही उनके द्वारा ब्रह्मलोक तक गमन का कार्य सिद्ध होता है, (इसलिए वैसा ही समझना चाहिए)।

व्याख्या— यदि अर्चि आदि शब्दों के द्वारा उन्हें अभिमानी देवता न मानकर मात्र उन्हें ज्योति एवं जड़ पदार्थ मानें, तो दोनों के ही मोहयुक्त अर्थात् मार्ग ज्ञान रहित होने से ब्रह्मलोक तक पहुँचकर ब्रह्मसामीप्य असम्भव हो जाएगा, क्योंकि जाने वाला जीवात्मा तो वहाँ के मार्ग से अपरिचित है। उसे आगे ले जाने वाले अर्चि आदि भी यदि जड़ हों, तो मार्ग का ज्ञाता कोई न होने से देवयान एवं पितृयान मार्ग की जानकारी होनी संभव नहीं होगी। अतः अर्चि आदि शब्दों द्वारा उन-उन के अभिमानी देवों का वर्णन स्वीकारना जरूरी है और तभी उन देवों के द्वारा ब्रह्मलोक तक जाने का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा। इसलिए मार्ग में जिन-जिन लोकों का उल्लेख मिलता है, उनसे उन-उन लोकों के स्वामी देवता को ही मानना चाहिए। अपने लोक से अगले लोक में ले जाना ही उनका प्रमुख कार्य है ॥५॥

छा. उ. ५/१०/१ में वर्णन आता है कि वह अमानव महापुरुष विद्युत्-लोक के पश्चात् ज्ञानी को ब्रह्म का सामीप्य करा देता है, तो फिर बीच में आने वाले अन्य वरुण, इन्द्र एवं प्रजापति आदि लोकों के अभिमानी देवों का क्या काम होगा ? इसी आशंका का निवारण आचार्य अगले सूत्र में करते हैं—

(५२४) वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥६॥

सूत्रार्थ— ततः = वहाँ से, वैद्युतेन = विद्युत्-लोक में प्रकट हुए अमानव पुरुष द्वारा, एव = ही(वे ज्ञानी साधक ब्रह्मलोक तक पहुँचाये जाते हैं), तच्छ्रुतेः = क्योंकि वैसा ही वर्णन श्रुति में मिलता है।

व्याख्या— छा. उ. ५/१०/१-२ में स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलता है कि 'चन्द्रलोक से ज्ञानी साधक चलकर विद्युत् लोक में पहुँचता है, फिर वहाँ से प्रकट हुआ अमानव महापुरुष उसे ब्रह्म के समीप पहुँचा देता है।' इस प्रकार श्रुति में स्पष्ट वर्णन मिलने से यह सिद्ध हो जाता है कि विद्युत् लोक से आगे ब्रह्मलोक तक वही विद्युत्-लोक में उत्पन्न अतीन्द्रिय सामर्थ्य युक्त पुरुष ही उन्हें (ज्ञानी को) पहुँचाता है तथा बीच के जो अन्य अभिमानी देव हैं, उनका तो मात्र इतना ही कार्य है कि वे सभी अपने लोकों में से होकर जाने का मार्ग प्रदान कर दें एवं जो अपेक्षित हो, वह सहयोग प्रदान कर दें॥ ६॥

ब्रह्मविद्या का अधिकारी साधक ब्रह्मलोक में जिसे प्राप्त करता है, वह परब्रह्म है या सर्वप्रथम जन्म लेने वाला ब्रह्मा ? इसी जिज्ञासा के निस्तारण हेतु अगला प्रकरण शुरू करते हैं। अगले सूत्र क्र० ७ से ११ तक आचार्य बादरि की तरफ से पूर्वपक्ष का मत प्रस्तुत किया जा रहा है—

(५२५) कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥७॥

सूत्रार्थ— बादरिः = आचार्य बादरि की मान्यता है कि , कार्यम् = कार्य-ब्रह्म अर्थात् हिरण्यगर्भ को प्राप्त होते हैं, गत्युपपत्तेः = क्योंकि गमन करने की उपपत्ति का वर्णन, अस्य = इस कार्य-ब्रह्म रूपी हिरण्यगर्भ के लिए ही है।

व्याख्या— आचार्य बादरि की मान्यता है कि श्रुति में जो लोकान्तर-गमन का वर्णन आता है, वह परब्रह्म की प्राप्ति हेतु उचित नहीं है; क्योंकि परब्रह्म तो सर्वत्र विद्यमान है, उसे प्राप्त करने के लिए लोकान्तर में जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। उनके उपासकों को कहीं भी जाना श्रेयस्कर नहीं है। वे तो अज्ञान के समाप्त होते ही तत्क्षण ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं। इससे यह स्पष्ट हुआ कि इन ब्रह्मविद्याओं की साधना करने वालों के लिए जो प्राप्त होने वाला ब्रह्म है, वह परब्रह्म नहीं, वरन् कार्यब्रह्म ही है; क्योंकि इस कार्यब्रह्म की प्राप्ति हेतु लोकान्तर में जाकर उसे पाने का वर्णन सर्वथा उचित प्रतीत होता है॥ ७॥

अगले सूत्र में आचार्य प्रकारान्तर से अपने पक्ष को दृढ़ कर रहे हैं—

(५२६) विशेषितत्वाच्च ॥८ ॥

सूत्रार्थ— च = और, विशेषितत्वात् = विशेषण देकर स्पष्ट किया गया है, इस कारण से भी कार्य-ब्रह्म को प्राप्त होना मान लेना उचित है।

व्याख्या— बृहदारण्यकोपनिषद् ६/२/१५ में वर्णन आता है कि 'अमानव पुरुष इन (ज्ञानी-साधकों) को ब्रह्मलोकों में ले जाता है'। यहाँ पर इस श्रुति में ब्रह्मलोक में बहुवचन का प्रयोग हुआ है और ब्रह्मलोकों में गमन कराने की बात बतलाई गई है, ब्रह्म-प्राप्ति की बात नहीं बताई गई है। इस तरह से विशिष्ट रूप से स्पष्ट बतलाए जाने से भी यही सिद्ध होता है कि कार्य-ब्रह्म को ही ज्ञानी साधक प्राप्त होता है। इसका कारण यह है कि वह लोकों का अधिष्ठाता है। इसलिए सूत्रकार कहते हैं कि भोग्य भूमि होने से लोकों के साथ बहुवचन का प्रयोग सर्वथा युक्ति संगत है ॥८ ॥

श्रुति में यह वर्णन आया है कि वह अमानव पुरुष इन (ज्ञानी साधकों) को ब्रह्म के पास ले जाता है। यह वर्णन कार्यब्रह्म मानने से उपयुक्त नहीं प्रतीत होता; क्योंकि श्रुति का उद्देश्य यदि कार्यब्रह्म की प्राप्ति बतलाना होता, तो वह ब्रह्मा के पास पहुँचा देता है, ऐसा वर्णन (कथन) होना चाहिए था। इसी के समाधान हेतु आचार्य कहते हैं—

(५२७) सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥९ ॥

सूत्रार्थ— तद्व्यपदेशः = वह कथन (वर्णन), तु = तो, सामीप्यात् = ब्रह्म की समीपता होने से भी ब्रह्मा के लिए हो सकता है।

व्याख्या— उपर्युक्त सूत्र में विशेषण के सहित स्पष्ट करने का जो कथन (वर्णन) आया है, उसमें ब्रह्म के अतिसमीप स्थित ब्रह्मा का भी कथन हो सकता है। इस सन्दर्भ में श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/१८ में कहा गया है- **'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाँऽश्च प्रहिणोति तस्मै। तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये'** अर्थात् जो सर्वप्रथम ब्रह्मा की सर्जना करता है और जो उसे समस्त वेदों का ज्ञान देता है। परमात्म ज्ञान विषयक बुद्धि को प्रकट करने वाले उस प्रसिद्ध परब्रह्म परमात्मा की मैं मुमुक्षु साधक शरण में जाता हूँ। इस उपर्युक्त श्रुति कथन के अनुसार ब्रह्मा उस परब्रह्म की पहली कृति (संरचना) होने से ब्रह्मा को ही 'ब्रह्म' मान लिया गया है, ऐसा समझना ही युक्तिसंगत लगता है। उक्त वर्णन से ब्रह्मा ही ब्रह्म का अति निकटस्थ सिद्ध होता है। इस प्रकार से ब्रह्मा को ब्रह्म और उसके लोक को ही ब्रह्मलोक कहना सम्भव प्रतीत होता है ॥९ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता के अ. ८/१६ में वर्णन आता है कि ब्रह्मा के लोक तक समस्त लोक पुनः आवृत्ति (गमनागमन) वाले हैं। इस प्रसङ्ग में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ब्रह्मा की आयु पूर्ण हो जाने के पश्चात् वहाँ पहुँचने वालों का पुनः वापस होना जरूरी है तथा श्रुति में देवयान मार्ग से गमन करने वालों का वापस न होना बतलाया गया है। अतः कार्यब्रह्म की प्राप्ति न मानकर परब्रह्म की प्राप्ति मान लेना ही उचित लगता है। इस पर आचार्य अगले सूत्र में पूर्व पक्ष की ओर से ही प्रतिपादन करते हैं—

(५२८) कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्॥१०॥

सूत्रार्थ— कार्य = कार्य-रूप ब्रह्मलोक का, अत्यये = नाश होने पर, तदध्यक्षेण = उसके अधिष्ठाता ब्रह्मा के, सह = सहित, अत: = इससे, परम् = श्रेष्ठ परब्रह्म को, अभिधानात् = प्राप्त होने का वर्णन है, अत: (पुन: आवृत्ति नहीं होगी)।

व्याख्या— जिन ज्ञानी साधकों ने उपनिषदों के विज्ञान द्वारा उनके अर्थभूत परमात्मा का सम्यक् रूप से निश्चय कर लिया है और कर्मफल एवं आसक्ति के त्याग रूपी योग से जिन साधकों का अन्त:करण पवित्र हो गया है, वे सभी ब्रह्मलोक में पहुँचकर अमृतमय ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। इस सन्दर्भ में मुण्डकोपनिषद् ३/२/६ में उपनिषद्कार कहते हैं- **'ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे'** अर्थात् वे समस्त साधक (जो वैराग्य और योग द्वारा शुद्ध अन्त:करण को प्राप्त कर चुके हैं) शरीर का परित्याग करके ब्रह्मलोक में प्रविष्ट हो जाते हैं। वे सभी तरफ से मुक्त होकर श्रेष्ठ अमृतत्व को प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार श्रुति में सभी साधकों की मुक्ति का वर्णन होने से यह स्पष्ट होता है कि प्रलय काल में ब्रह्मलोक का विनाश होने से उसके स्वामी ब्रह्मा के सहित वहाँ गये हुए ब्रह्मविद्या के साधक भी अविनाशी ब्रह्म को पाकर मुक्त हो जाते हैं। इस कारण उनका पुनरागमन नहीं होता॥१०॥

अगले सूत्र में सूत्रकार स्मृति-प्रमाण द्वारा पूर्वपक्ष को पुनः स्पष्ट करते हैं—

(५२९) स्मृतेश्च॥११॥

सूत्रार्थ— स्मृते: = स्मृति-प्रमाण होने से, च = भी (उक्त कथन की सिद्धि होती है)।

व्याख्या— शुद्ध अन्त:करण वाले साधकों का प्रलयकाल की स्थिति में परब्रह्म में विलीन होकर मुक्त होने का उल्लेख स्मृति ग्रन्थ कूर्मपुराण पूर्व खण्ड के १२/२६९ में इस प्रकार मिलता है, देखें- **'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसंचरे। परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्'** अर्थात् वे सभी शुद्धान्त:करण वाले ज्ञानी साधक पुरुष प्रलयकाल की स्थिति आ जाने पर सम्पूर्ण विश्व के अन्त में ब्रह्मा के सहित उस परमात्मतत्त्व में प्रविष्ट होकर मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार से यह सिद्ध होता है कि स्मृतियों में भी यही भाव प्रतिपादित किया गया है। इसीलिए ज्ञानी को कार्यब्रह्म की प्राप्ति होती है, यही मानना सर्वथा उचित है॥११॥

अब सूत्रकार उपर्युक्त सूत्र तक पूर्वपक्ष के मत का प्रतिपादन करने के बाद उसके उत्तर में आचार्य जैमिनि का मत अगले सूत्र से प्रस्तुत करते हैं—

(५३०) परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्॥१२॥

सूत्रार्थ— जैमिनि: = आचार्य जैमिनि का मत है कि , मुख्यत्वात् = ब्रह्मशब्द का मुख्य वाच्यार्थ होने से, परम् = परब्रह्म को प्राप्त होता है (यही समझना उचित होगा)।

व्याख्या— छान्दोग्योपनिषद् ५/१०/१ में जो वर्णन आता है कि 'अमानव पुरुष इन ज्ञानी साधकों को ब्रह्म के समीप पहुँचा देता है।' श्रुति के इस कथन में कहा हुआ 'ब्रह्म' शब्द मुख्य रूप से परब्रह्म परमात्मा का ही वाचक है, अत: अर्चि आदि मार्ग से गमन करने वाले उस अविनाशी परब्रह्म को ही प्राप्त करते हैं, कार्य-ब्रह्म को नहीं। आचार्य जैमिनि का भी यही मन्तव्य है। जहाँ पर मुख्य अर्थ की उपयोगिता नहीं होती, वहीं पर गौण अर्थ की कल्पना हो सकती है। मुख्य अर्थ की उपयोगिता रहते हुए गौण अर्थ की परिकल्पना नहीं की जा सकती है। वह परमात्मा सर्वत्र पूर्ण होने पर भी उसके परम धाम का प्रतिपादन एवं वहाँ ज्ञानी साधकों के गमन का उल्लेख श्रुतियों में (कठ.उ. १/३/९, प्र.उ. १/१०) एवं स्मृति ग्रन्थ के अन्तर्गत गीता के (अ. १५/६) में अनेकों जगह मिलता है। अत: उसके लोक विशेष में जाने के लिए कहना कार्यब्रह्म का प्रतीक

नहीं है। बहुवचनान्त प्रयोग भी आदरार्थ करना सम्भव है और उस परब्रह्म के स्वयं के लिए रचे हुए अनेक लोकों का होना भी कोई असम्भव नहीं है। अत: यही स्पष्ट होता है कि वे (साधक) उसी के परम धाम में जाकर उस परब्रह्म को ही पाते हैं, कार्य-ब्रह्म को नहीं। यही अभिमत आचार्य जैमिनि का भी है ॥१२॥

अगले सूत्र में सूत्रकार प्रकारान्तर से पुन: आचार्य जैमिनि के मत को दृढ़ करते हैं—

(५३१) दर्शनाच्च ॥१३॥

सूत्रार्थ— दर्शनात् = श्रुति में सर्वत्र गतिपूर्वक परब्रह्म का प्राप्त होना ही दृष्टिगोचर होता है, च = इससे भी सिद्ध होता है कि कार्यब्रह्म की प्राप्ति नहीं है।

व्याख्या— श्रुति में यत्र-तत्र पर्याप्त स्थलों में परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति का उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। छान्दोग्योपनिषद् ८/६/६ में वर्णन मिलता है कि 'उनमें से सुषुम्ना नाड़ी द्वारा उत्क्रमण कर अमृतत्व को प्राप्त होता है।' कठ.उ. १/३/९ में कहा गया है कि 'वह संसार मार्ग के उस पार उन भगवान् विष्णु के परम पद को पाता है।' कठ. उ. २/३/१६ में पुन: 'सुषुम्ना नाड़ी द्वारा शरीर से बाहर निकलकर गमन करने का उल्लेख हुआ है।' इस प्रकार उक्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि देवयान मार्ग द्वारा गमन करने वाले- ब्रह्मविद्या की साधना करने वाले ज्ञानी साधक उस अविनाशी परब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं, कार्यब्रह्म को नहीं ॥१३॥

पुन: अगले सूत्र में सूत्रकार प्रकारान्तर से आचार्य जैमिनि के मत को और दृढ़ कर रहे हैं—

(५३२) न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धि: ॥१४॥

सूत्रार्थ— च = तथा इसके अतिरिक्त, प्रतिपत्त्यभिसन्धि: = उन ब्रह्मविद्या के उपासकों का प्राप्ति विषयक संकल्प भी, कार्ये = कार्य ब्रह्म के लिए , न = नहीं है।

व्याख्या— इसके अतिरिक्त उन ब्रह्मविद्या के साधकों का जो प्राप्ति-सम्बन्धी संकल्प है, वह कार्यब्रह्म के लिए नहीं, बल्कि परब्रह्म को पाने हेतु ही उनकी साधना में अभिरुचि देखी गई है। इस कारण से भी उन साधकों को कार्य-ब्रह्म की प्राप्ति न होकर परब्रह्म की ही प्राप्ति होती है। श्रुतियों के अन्तर्गत छा.उ. ८/१४/१ में वर्णन आता है- '**प्रजापते: सभां वेश्म प्रपद्ये ....**' अर्थात् (वे) साधक प्रजापति के सभागृह को प्राप्त होते हैं। यहाँ पर इस प्रसङ्ग में भी साधक का लक्ष्य प्रजापति के लोक में निवास करना नहीं, वरन् परब्रह्म के परमधाम में गमन करना ही है, क्योंकि वहाँ पर जिस यशों के यश अर्थात् महायश का उल्लेख मिलता है, यह ब्रह्म का ही नाम है। यही तथ्य श्रुति में अन्यत्र भी देखने को मिलता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् ४/१९ एवं छा.उ. ८/१३/१ के प्रसङ्ग से भी स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ साधक का लक्ष्य परब्रह्म का प्राप्त होना ही है। छा.उ. ८/१३/१ में कहा गया है कि - '**अश्व इव रोमाणि विधूय पापम् ....**' अर्थात् जिस तरह अश्व अपने रोमों को झाड़कर स्वच्छ एवं मलरहित हो जाता है, वैसे ही साधक अपने पापों से निवृत्त होकर राहु के मुख से प्रकट हुए चन्द्रमा की भाँति (ग्रहण के उपरान्त निर्मल होकर) शरीर का त्याग कर ब्रह्म-लोक प्राप्ति की कामना कार्य-ब्रह्म की प्राप्ति के लिए कदापि नहीं हो सकती ॥१४॥

पूर्वपक्ष एवं उसके उत्तर पक्ष की स्थापना करने के उपरान्त अब अगले सूत्र में सूत्रकार अपने मत को प्रकट करते हुए सिद्धान्त पक्ष का उल्लेख करते हैं—

(५३३) अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथादोषात्तत्क्रतुश्च ॥१५॥

सूत्रार्थ— अप्रतीकालम्बनात् = प्रतीक की उपासना करने वालों के अतिरिक्त अन्य सभी उपासकों को, नयति = (अर्चि आदि देवगण देवयान मार्ग से) ले जाते हैं, उभयथा = (अत:) दोनों प्रकार की मान्यता में, अदोषात् = कोई दोष न होने से, तत्क्रतु: = उनके संकल्प रूपी ब्रह्म को, च = और (कार्यब्रह्म को प्राप्त होना

सिद्ध होता है,) इति = ऐसी, बादरायण: = आचार्य बादरायण (वेदव्यास) जी की मान्यता है।

व्याख्या— आचार्य वेदव्यास (बादरायण) जी की मान्यता है कि जिन प्रतीक उपासनाओं का श्रुति में उल्लेख मिलता है, उनसे भिन्न उपासना वाले जो सर्वज्ञ अविनाशी परब्रह्म के उपासक हैं, उन दोनों प्रकार के उपासकों-साधकों के संकल्पों के अनुसार वे अमानव अर्चि आदि देवगण परब्रह्म या कार्य-ब्रह्म की प्राप्ति करा देते हैं। साधकों का संकल्प इस प्राप्ति में विशिष्ट महत्त्व रखता है, अत: दोनों तरह की मान्यताओं में से किसी भी तरह का कोई दोष नहीं है तथा परब्रह्म के परमधाम में गमन का मार्ग भी प्रजापति बह्मा के लोक में से ही होकर गया है। श्रुति के अन्तर्गत कौ.उ. १/३ में इसका स्पष्ट वर्णन मिलता है, देखें- जिनको परब्रह्म के परमधाम में पहुँचाते हैं, उनका मार्ग भी प्रजापति ब्रह्मा के लोक में से होकर ही जाता है। अत: दोनों प्रकार के साधकों का ब्रह्मा के लोक में पहुँचना तो अनिवार्य है ही, फिर भी जिनकी साधना का संकल्प ब्रह्म-प्राप्ति के स्तर का है, उनको ब्रह्म के परमधाम में पहुँचा देना भी उचित ही है॥१५॥

प्रतीक उपासना वाले साधकों को अर्चि-मार्ग से न ले जाने का क्या कारण है? आचार्य इस जिज्ञासा का समाधान अगले सूत्र में करते हैं—

(५३४) विशेषं च दर्शयति॥१६॥

सूत्रार्थ— विशेषम् = इसका विशिष्ट कारण, च = भी, दर्शयति = श्रुति दर्शन कराती है।

व्याख्या— विभिन्न तरह की प्रतीक उपासनाओं के फलों की विभिन्नता श्रुतियों में स्पष्ट रूप से बतलाई गई है और उपासक की गति उसके सङ्कल्प के अनुसार होनी कही गई है। छान्दोग्योपनिषद् (७/२/२) में वर्णन आता है-- 'वाणी आदि प्रतीकोपासना वाले साधकों को देवयान मार्ग के अधिकारी क्यों नहीं ले जाते, इसका विशेष कारण उन-उन साधनाओं के विविध फलों का वर्णन करते हुए श्रुति स्वयं ही दृष्टिगोचर कराती है, वाणी में प्रतीकोपासना का फल जहाँ तक वाणी की गति होती है, वहाँ तक स्वेच्छापूर्वक विचरण करने की शक्ति बतलाया गया है।' श्रुति के अन्तर्गत इसी उपनिषद् में अन्यत्र भी ऐसा ही वर्णन देखने को मिलता है- सनत्कुमार जी ने वाणी को मन से श्रेष्ठ कहा है और मन से संकल्प को। ऐसे ही चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न,जल आदि का उल्लेख करते हुए अन्त में कहा है कि- **'यो वै भूमा तत्सुखं .....'** अर्थात् जो भूमा (व्यापक ब्रह्म) है, वही सुख है, अल्प पदार्थों में सुख नहीं है, भूमा सुख स्वरूप है, भूमा ही जानने योग्य है। इस प्रकार भूमा अर्थात् ब्रह्म ही जानने योग्य है। जो ब्रह्म को जान लेते हैं, वही मुक्त होते हैं। इस प्रकार प्रतीकोपासना करने वाले वे साधक देवयान मार्ग से न तो कार्यब्रह्म के लोक में ही जाने के पात्र (अधिकारी) हैं और न परब्रह्म के परमधाम में ही जाने के पात्र (अधिकारी) हैं। अत: उस मार्ग के सत्पात्र 'अधिकारी' देवों का अर्चिमार्ग से उनको न ले जाना ही उचित प्रतीत होता है॥१६॥

॥ इति चतुर्थाध्यायस्य तृतीय: पाद: समाप्त:॥

॥ अथ चतुर्थाध्याये चतुर्थः पादः ॥

तृतीय पाद के अन्तर्गत अर्चि आदि मार्ग द्वारा परब्रह्म एवं कार्यब्रह्म के लोक में गमन करने वालों की गति के सन्दर्भ में विचार किया गया। अब ज्ञानी-साधकों के संकल्पानुसार ब्रह्मलोक में पहुँचने के पश्चात् जो उनकी अवस्था का भेद होता है, उसके निस्तारण हेतु चतुर्थ पाद का शुभारम्भ करते हैं। इसमें सर्वप्रथम उन साधकों के विषय में समाधान करते हैं, जिनका लक्ष्य परब्रह्म की प्राप्ति है तथा जो उस अविनाशी परब्रह्म के अप्राकृत दिव्य परमधाम में गमन करते हैं।

उपर्युक्त विषय के प्रतिपादनार्थ सूत्रकार अगले सूत्र में अपना विचार प्रस्तुत करते हैं—

(५३५) सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥१॥

सूत्रार्थ— सम्पद्य = परमपद को प्राप्त करके (इस जीवात्मा का), स्वेन = अपने यथार्थ रूप से, आविर्भावः = उद्‌भव होता है, शब्दात् = क्योंकि श्रुतियों में ऐसा उल्लेख मिलता है।

व्याख्या— श्रुतियों में स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलता है कि परमपद को प्राप्त हो जाने के पश्चात् ही ज्ञानी-साधक का (जीव को) अपना यथार्थ रूप प्रकट होता है। छा.उ. ८/३/४ में प्रस्तुत विषय में कहा गया है कि जो ज्ञानी-साधक इस शरीर से ऊपर उत्क्रमण करके परम ज्ञानस्वरूप परमधाम को प्राप्त होता है, वह वहाँ अपने वास्तविक स्वरूप से परिपूर्ण हो जाता है। यह आत्मा है, यह (उसको प्राप्त होने वाला है) अमृत है, अभय है तथा यही ब्रह्म है। निश्चित ही उस परब्रह्म का नाम सत्य है,ऐसा आचार्य ने कहा। ऐसा ही वर्णन छा.उ. ८/१/५, ८/२/१ से १०, ८/३/३-४ एवं ८/१/६ में भी मिलता है। इन उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि मोक्ष की अवस्था में जीवात्मा का शुद्ध चिन्मय स्वरूप प्रकट हो जाता है और वह परब्रह्म से एकाकार हो जाता है ॥१॥

परमात्मा के परमधाम में जो वह साधक अपने यथार्थ से परिपूर्ण होता है, उसमें पहले की अपेक्षा क्या विशिष्टता होती है ? अगले सूत्र में इसी जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत है—

(५३६) मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥२॥

सूत्रार्थ— प्रतिज्ञानात् = प्रतिज्ञा किये जाने के कारण यह सिद्ध होता है कि, मुक्तः = (वह स्वरूप जो पूर्व में था) सभी तरह के बन्धनों से मुक्त होता है।

व्याख्या— श्रुति में अनेक जगहों पर जीवात्मा के बन्धनमुक्त होने का उल्लेख प्राप्त होता है। छा.उ. ८/१२/१ में कहा गया है कि 'शरीर से मुक्त हुए को सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते हैं' अथवा यह कहें कि यह जीवात्मा पाप-रहित है, इस कारण उसका सभी बन्धनों से मुक्त होना सिद्ध होता है। मुण्डकोपनिषद् ३/२/६ में इसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है-'उस परमात्मा के लोक को प्राप्त कर लेने के पश्चात् ज्ञानी-साधक सदैव के लिए सभी तरह के बन्धनों से मुक्त हो जाता है।' इससे यह सिद्ध होता है कि अपने यथार्थ स्वरूप से पूर्ण होने पर साधक सभी तरह के बन्धनों से रहित सर्वथा शुद्ध, दिव्य, विभु एवं विज्ञानमय होता है। उसमें किसी भी तरह का कोई विकार नहीं होता। पूर्णरूपेण सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है ॥२॥

अब जिज्ञासा यह उठती है कि यह कैसे निश्चय होता है कि उस समय साधक समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है ? इसी का समाधान आचार्य अगले सूत्र में करते हैं—

(५३७) आत्मा प्रकरणात् ॥३॥

सूत्रार्थ— प्रकरणात् =प्रकरण से , आत्मा = आत्मा का ही विशुद्धात्मा होना सिद्ध होता है।

व्याख्या— आत्मा बन्धन से परे होकर विशुद्ध दिव्य रूप में हो जाता है, ऐसा प्रकरण-प्रसङ्ग आदि से भी स्पष्ट हो जाता है। उपर्युक्त प्रकरण में जो प्रसंग आया है, उसका स्पष्ट वर्णन छा.उ. ८/३/४ में इस प्रकार मिलता है- 'वह ब्रह्मलोक में प्राप्त होने वाला स्वरूप आत्मा है।' इसलिए उस प्रकरण से यह स्पष्ट हो जाता

है कि उस समय वह सभी तरह के बन्धनों से मुक्त होकर परब्रह्म के सदृश परम दिव्य शुद्ध स्वरूप से सम्पन्न हो जाता है। इसका उल्लेख श्रीमद्भगवद्गीता के अ. १४/२ एवं मु.उ. ३/१/३ में भी मिलता है ॥३॥

अब आशंका यह होती है कि ब्रह्मलोक में जाने के बाद उस ज्ञानी-साधक की परब्रह्म से अलग स्थिति रहती है या वह उन्हीं में विलीन हो जाता है। इसके समाधान हेतु सूत्रकार अगला प्रकरण शुरू करते हैं। सर्वप्रथम क्रमशः तीन तरह के मत प्रस्तुत करते हैं—

(५३८) अविभागेन दृष्टत्वात् ॥४॥

सूत्रार्थ— अविभागेन = मुक्त हुए जीव की स्थिति उस अविनाशी ब्रह्म में अविभक्त रूप से होती है, दृष्टत्वात् = क्योंकि ऐसा ही वर्णन श्रुति में प्रायः देखने को मिलता है।

व्याख्या— कठोपनिषद् (२/१/१५) नामक श्रुति में वर्णन आया है, '**यथोदकं शुद्धे .... भवति गौतम**' अर्थात् 'जैसे पवित्र जल में गिरा (मिला) हुआ पवित्र जल वैसा ही (तदनुरूप) हो जाता है, उसी प्रकार परब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म में मिलकर वैसा ही एक रूप हो जाता है।' मुण्डकोपनिषद् ३/२/८ में ऐसा ही उल्लेख मिलता है- 'जैसे प्रवाहित नदियाँ नाम-रूप को छोड़कर समुद्र में मिल जाती हैं, वैसे ही परब्रह्म को जानने वाला विद्वान् नाम-रूप से मुक्त होकर परात्पर, दिव्य परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।' उक्त दोनों श्रुतियों के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुक्त हुआ प्राणी उस परब्रह्म में अविभक्त रूप से ही अवस्थित हो जाता है ॥४॥

अगले सूत्र में सूत्रकार उक्त विषय के सन्दर्भ में आचार्य जैमिनि का मत बतलाते हैं—

(५३९) ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥५॥

सूत्रार्थ— जैमिनिः = आचार्य जैमिनि की मान्यता है कि, ब्राह्मेण = ब्रह्म के समान रूप से स्थित होता है, उपन्यासादिभ्यः = क्योंकि श्रुति में जो उसके स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है, उसे देखने एवं स्मृति-प्रमाण से भी ऐसा वर्णन मिलता है।

व्याख्या— सूत्रकार कहते हैं कि आचार्य जैमिनि की मान्यता है कि मुक्तावस्था में वह जीवात्मा ब्रह्म के समान अर्थात् ब्रह्मवत् हो जाता है। इस विषय में श्रुति के अन्तर्गत मुण्डकोपनिषद् ३/१/३ में वर्णन आता है कि 'वह ज्ञानी-साधक निर्मल-पवित्र होकर परम समानता को प्राप्त होता है, यह वर्णन जीव एवं ब्रह्म का सात्म्य भाव सिद्ध करता है। छा.उ. ८/७/१ में कहा गया है कि मुक्त हुआ पुरुष सत्यकाम, सत्य-संकल्पमय होता है, यही लक्षण ब्रह्म के बतलाये गये हैं। स्मृतियों के अन्तर्गत गीता के अ. १४/२ में कहा गया है- 'इस ज्ञान का आश्रय प्राप्त कर मेरे दिव्य गुणों की समानता को प्राप्त हुए महापुरुष सृष्टि के समय में प्रादुर्भूत एवं प्रलय के समय में व्यथित नहीं होते।' इस प्रकार उपर्युक्त उद्धरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि वह ज्ञानी-साधक उस परब्रह्म के सदृश दिव्य स्वरूप से युक्त हो जाता है ॥५॥

अब सूत्रकार अगले सूत्र में आचार्य औडुलोमि के मत का प्रतिपादन करते हैं—

(५४०) चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥६॥

सूत्रार्थ— चितितन्मात्रेण = आत्मा चेतन स्वरूप वाला है (वह) उसी रूप में अवस्थित रहता है, तदात्मकत्वात् = क्योंकि उस (आत्मा) का यथार्थ रूप वैसा ही है, इति = ऐसा, औडुलोमिः = आचार्य औडुलोमि का कथन है।

व्याख्या— परम दिव्यधाम में पहुँचा हुआ मुक्तात्मा अपने चैतन्यमय यथार्थ स्वरूप में अवस्थित रहता है, क्योंकि श्रुति में उस मुक्तात्मा का वैसा ही स्वरूप कहा गया है। उक्त विषय के सन्दर्भ में उपनिषद्कार बृह.उ. ४/५/१३ में कहते हैं कि '**स यथा सैन्धव ....प्रज्ञानघन एव**' अर्थात् 'जिस प्रकार नमक का

टुकड़ा (खण्ड) बाहर-भीतर से रहित पूरा का पूरा रस स्वरूप है, उसी प्रकार से यह मुक्तात्मा बाहर-भीतर के भेद से परे सम्पूर्ण रूप से प्रज्ञानघन मय ही है। अत: उस जीवात्मा का अपने स्वरूप से युक्त होना चैतन्यमय रूप में ही अवस्थित होना है, यही आचार्य औडुलोमि की मान्यता है॥६॥

उपर्युक्त विषय के सन्दर्भ में आचार्य जैमिनि व औडुलोमि के पश्चात् स्वयं सूत्रकार आचार्य बादरायण अगले सूत्र में अपना सिद्धान्त प्रस्तुत कर रहे हैं—

(५४१) एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायण: ॥७॥

सूत्रार्थ— एवम् = इस प्रकार चैतन्य रूप में अवस्थित मान लेने पर, उपन्यासात् = उस मुक्तात्मा का श्रुति में स्वरूप उल्लेख होने से (और), पूर्वभावात् = पहले (उपर्युक्त चौथे) सूत्र में कहे गये भाव से, अपि = भी, अविरोधात् = आत्मा के सत्य-काम, सत्य-संकल्प आदि गुणों (सिद्धान्त) में कोई विरोध नहीं होता, बादरायण: = ऐसा आचार्य बादरायण का अभिमत है।

व्याख्या— आचार्य जैमिनि की मान्यता के अनुसार मुक्तात्मा का स्वरूप परब्रह्म के समान दिव्य गुणों से युक्त होता है। यह मत श्रुति-स्मृतियों दोनों में बतलाया गया है। दूसरे आचार्य औडुलोमि के मतानुसार भी जीवात्मा के चैतन्यमय स्वरूप से अवस्थित होने का उल्लेख प्राप्त होता है। इसी तरह उपर्युक्त सूत्र क्र. ४ में जैसा वर्णित हुआ है, उसके अनुसार परब्रह्म में अपृथक् रूप से अवस्थित होने का भी उल्लेख किया गया है। सूत्रकार कहते हैं कि इसलिए यही मानना उचित है कि उस मुक्तात्मा के अभिप्रायानुसार उसकी तीनों ही तरह से स्थिति हो सकती है। इस अभिमत में किसी भी तरह का कोई विरोध नहीं है॥७॥

परमधाम में गमन करने वाले साधकों के सन्दर्भ में निर्णय के बाद अब जो साधक प्रजापति ब्रह्मा के लोक को जाते हैं, उनके विषय में निस्तारण हेतु अगला प्रकरण शुरू करते हैं- यहाँ प्रश्न उठता है कि उन साधकों को ब्रह्मलोकों के भोगों की प्राप्ति किस प्रकार होती है ? इसी का समाधान अगले सूत्र में किया जा रहा है—

(५४२) संकल्पादेव तु तच्छ्रुते: ॥८॥

सूत्रार्थ— तु = किन्तु (उन भोगों की प्राप्ति तो), संकल्पात् = संकल्प से, एवं = ही होती है, तच्छ्रुते: = क्योंकि श्रुति में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है।

व्याख्या— उन (ब्रह्मलोकों के) भोगों की प्राप्ति मन के द्वारा संकल्प से ही संभव होने के कारण मुक्तात्मा को सत्यसंकल्पमय कहा है। 'यह मुक्तात्मा मन रूपी दिव्य नेत्रों से ब्रह्मलोक के सभी तरह के भोगों को देखता हुआ रमण करता है।' श्रुति के अन्तर्गत यह बात छा.उ. ८/१२/५,६ में सविस्तार बतलाई गई है। छा.उप. ८/२/१० में भी कहा गया है- **'यं काम कामयते ...... महीयते'** अर्थात् जो साधक जिस कामना को करता है, वह कामना इस मुक्तात्मा के संकल्प से ही पूर्ण होती है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि मानसिक संकल्प के द्वारा संकल्प मात्र से ही साधक को उस लोक के दिव्य भोगों की प्राप्ति होती है॥८॥

अब आचार्य युक्तिपूर्वक पुन: उक्त विषय को अगले सूत्र में पुष्ट करते हैं—

(५४३) अत एव चानन्याधिपति: ॥९॥

सूत्रार्थ— च = और , अतएव = इसीलिए, अनन्याधिपति: = (उस मुक्तात्मा को) ब्रह्मा के अतिरिक्त अन्य स्वामी से रहित कहा गया है अर्थात् वह स्वयं ही अपना अधिपति (स्वामी) होता है।

व्याख्या— मुक्तात्मा पुरुष के सत्य-संकल्पयुक्त होने के कारण ही उसका अन्य और कोई अधिपति (स्वामी) नहीं होता। वह स्वयं ही अपना अधिपति होता है। यदि उसका अधिपति और कोई होता, तो वह स्वयं सत्य-संकल्पमय नहीं हो सकता। श्रुति में स्पष्ट उल्लेख मिलता है- **'स स्वराट् भवति'** अर्थात् वह स्वयं ही अपना अधिपति होता है। तैत्ति. उ. १/६ में भी कहा गया है- 'वह स्वयं अपने राज्य को पा लेता है,

मन के स्वामी हिरण्यगर्भ को प्राप्त हो जाता है। अत: वह स्वयं बुद्धि, मन, वाणी, नेत्र एवं श्रोत्र- सभी का स्वामी हो जाता है। यहाँ इसका अभिप्राय यह हुआ कि एक ब्रह्मा जी के अतिरिक्त अन्य किसी का भी उस पर आधिपत्य लागू नहीं होता। इस कारण उक्त सूत्र क्र. ८ में सूत्रकार ने बतलाया है कि वह मन से संकल्प करने मात्र से ही सभी दिव्य भोगों को पा लेता है॥९॥

उस मुक्त हुए को संकल्प-मात्र से ही जो दिव्य भोग मिलते हैं, उन भोगों के लिए वह देह भी ग्रहण करता है अथवा नहीं? अगले सूत्र में आचार्य बादरि का मत प्रस्तुत है—

(५४४) अभावं बादरिराह ह्येवम्॥१०॥

सूत्रार्थ— बादरि: = आचार्य बादरि का कथन है कि, अभावम् = मुक्त पुरुष के देह व इन्द्रियाँ नहीं होतीं, उनका अभाव रहता है, हि = क्योंकि, एवम् = ऐसा ही (यही), आह = श्रुति भी कहती है।

व्याख्या— आचार्य बादरि की मान्यता है कि मुक्त हुए पुरुष के देह एवं इन्द्रियाँ नहीं होतीं। उस दिव्य लोक में स्थूल देह आदि पदार्थों का अभाव रहता है, अत: मुक्त हुआ पुरुष देह के अभाव में केवल मन के सङ्कल्प से ही उन भोगों को प्राप्त करता है। इसका वर्णन श्रुतियों में जगह-जगह पर मिलता है। छा.उ.८/१२/१-२ में कहा गया है कि '**अशरीर ....स्पृशत:**' अर्थात् देह त्याग के पश्चात् उस मुक्त हुए प्राणी का सुख-दु:ख से कभी भी स्पर्श नहीं होता। वह अपने दिव्य-स्वरूप से सम्पृक्त (संयुक्त) होता है। इसी उपनिषद् में अन्यत्र एक वर्णन मिलता है कि जीवात्मा का देह से उत्क्रमण होने पर वह ब्रह्मलोक में पहुँचकर ब्रह्म प्राप्ति के बाद अपने स्वरूप में प्रकट होता है। छा.उ. ८/१२/५-६ में कहा गया है कि '**स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते। य एते ब्रह्मलोके**' अर्थात् अवश्य ही वह यह मुक्तात्मा इस दिव्य नेत्र 'मन' के द्वारा जो ये ब्रह्मलोक के भोग हैं, उनका दर्शन करता हुआ, उन्हें भोगता है। छा.उ. ८/१३/१ में भी वर्णन आया है कि वह दिव्य रूपधारी स्थूल देह के बन्धन से मुक्त हो जाता है। इस कारण कार्य-ब्रह्म के लोक में गये हुए जीवात्मा के स्थूल देह का अभाव समझना ही ठीक है॥१०॥

अगले सूत्र में सूत्रकार उक्त विषय के संदर्भ में आचार्य जैमिनि का मत प्रस्तुत करते हैं—

(५४५) भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्॥११॥

सूत्रार्थ— जैमिनि: = आचार्य जैमिनि, भावम् = मुक्त जीवात्मा के शरीर का अस्तित्व स्वीकारते हैं, विकल्पामननात् = क्योंकि बिना देह के देह का विकल्प असम्भव है अर्थात् श्रुति में विभिन्न तरह से स्थित होने का वर्णन मिलता है।

व्याख्या— आचार्य जैमिनि मुक्तात्मा का शरीर होना स्वीकारते हैं; क्योंकि देह के विकल्पों का उल्लेख श्रुति में मिलता है। छान्दोग्योपनिषद् ७/२६/२ में कहा गया है कि '**एकधा भवति त्रिधा भवति, पञ्चधा, सप्तधा, नवधा चैव .....**' आदि के संकल्पानुसार मुक्तात्मा एक, तीन, पाँच, सात, नौ, ग्यारह, सौ, हजार आदि इस प्रकार अनेक शरीर धारण कर सकता है। यहाँ पर शरीर से स्थूल देह का भाव होना ही सुसंगत है। इस प्रकार श्रुति में देह को विभिन्न भावों से सम्पन्न होना बतलाया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि वह स्थूल शरीर से युक्त होता है, अन्यथा इस तरह से श्रुति का कहना उचित नहीं हो सकता॥११॥

अगले सूत्र में आचार्य बादरायण उक्त विषय के सन्दर्भ में अपना मत प्रस्तुत करते हैं—

(५४६) द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽत:॥१२॥

सूत्रार्थ— बादरायण: = आचार्य बादरायण (वेदव्यासजी) का कथन है कि, अत: = उपर्युक्त दोनों आचार्यों के मतों से, द्वादशाहवत् = द्वादशाह यज्ञ की 'सत्र' एवं 'अहीन' के सदृश, उभयविधम् = दोनों तरह की विधियाँ (मान्यताएँ) उचित हैं।

व्याख्या— उक्त सन्दर्भ में वेदव्यास जी का कथन है कि उपर्युक्त दोनों (बादरि एवं जैमिनि) आचार्यों का मत (प्रतिपादन) प्रमाणयुक्त है। अत: मुक्तात्मा के संकल्प के अनुसार देह का होना या न होना, दोनों ही स्थितियाँ सम्भव हैं। जिस प्रकार द्वादशाह-यज्ञश्रुति में कहीं अनेक कर्तृक होने पर 'सत्र' और नियत कर्तृक होने पर 'अहीन' माना गया है, उसी प्रकार यहाँ पर भी श्रुति में दोनों तरह का कथन होने से ज्ञानी साधक का स्थूल देह से सम्पन्न होकर दिव्य भोगों का उपभोग एवं बिना देह के मात्र मन के द्वारा ही उन दिव्य भोगों को भोगना भी सम्भव है। मुक्त पुरुष की वे दोनों ही विधियाँ (अवस्थाएँ) उचित हैं। इसमें किसी भी तरह का कोई भेद (विरोध) नहीं है॥१२॥

मुक्तात्मा अशरीरी होकर केवल मन के द्वारा भोगों का कैसे उपभोग करता है? इसी आशंका को आचार्य अगले सूत्र में प्रतिपादित करते हैं—

(५४७) तन्वभावे संध्यवदुपपत्तेः॥१३॥

सूत्रार्थ— तन्वभावे = देह के अभाव में, संध्यवत् = स्वप्न के सदृश (भोगों को भोगा जाता है), उपपत्तेः = क्योंकि यही मान लेना युक्ति संगत है।

व्याख्या— जिस प्रकार स्वप्नावस्था में स्थूल देह के अभाव में मानसिक संकल्पों के द्वारा सभी तरह के भोगों का उपभोग (प्राप्ति) जाग्रत्-अवस्था से भी अधिक विलक्षण स्थिति में होता है और जीवात्मा मन से ही भोग का उपभोग करता रहता है, उसी प्रकार से मुक्तात्मा को मुक्त अवस्था में ब्रह्मलोक में भी देह के अभाव में सभी प्रकार के दिव्य भोगों का उपभोग (प्राप्ति) होना संभव है। इसीलिए भगवान् वेदव्यास का यह अभिमत सर्वथा युक्तिसंगत ही है॥१३॥

अब आशंका होती है कि जीवात्मा देह में रहते हुए शरीर द्वारा कैसे भोगों का उपभोग करता है? इसी का समाधान आचार्य अगले सूत्र में करते हैं—

(५४८) भावे जाग्रद्वत्॥१४॥

सूत्रार्थ— भावे = इन्द्रियों से युक्त देह होने पर, जाग्रद्वत् = जाग्रत्-अवस्था के सदृश (भोगों का उपभोग होना युक्तिसंगत है)।

व्याख्या— आचार्य जैमिनि की मान्यता के अनुसार जिस मुक्त हुए पुरुष को देह की प्राप्ति होती है, वह उस मानव देह के द्वारा वैसे ही उन भोगों का उपभोग करता है, जैसे यहाँ पर जाग्रत्-अवस्था में सामान्य मनुष्य विषयों की अनुभूति करता है। ब्रह्मलोक में ऐसा होना भी संभव है, अत: दोनों तरह की स्थिति को स्वीकारने में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है॥१४॥

अब जिज्ञासा यह होती है जैमिनि ने जिस श्रुति-प्रमाण द्वारा मुक्तात्मा के अनेक देह होने की बात कही है, वे अनेक देह निरात्मक (जीवात्मा रहित) होते हैं या उनका स्वामी इससे पृथक् होता है? अगले सूत्र में आचार्य इसी जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत करते हैं—

(५४९) प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति॥१५॥

सूत्रार्थ— प्रदीपवत् = दीपक के सदृश, आवेशः = समस्त देह में मुक्तात्मा का प्रवेश होता है, हि = क्योंकि, तथा दर्शयति = ऐसा ही श्रुति में देखा जाता है।

व्याख्या— जिस प्रकार से अनेक दीपकों में एक ही ज्योति आलोकित होती है अथवा एक ही जगह पर रखा हुआ दीपक का प्रकाश दूर-दूर तक अनेक स्थलों को प्रकाशित करता रहता है। जैसे- अनेक विद्युत् बल्बों में विद्युत् की एक ही शक्तिधारा प्रवाहित होकर उन सभी बल्बों को प्रकाशित करती रहती है, उसी प्रकार एक ही मुक्त हुआ आत्मा अपने संकल्प के द्वारा रचित समस्त देहों (शरीरों) में संव्याप्त होकर दिव्य लोक

के भोगों को भोगता रहता है; क्योंकि ऐसा ही श्रुति के अन्तर्गत छा.उ. ७/२६/२ में उस एक आत्मा को ही विभिन्न रूपों में होना दिखलाया गया है॥१५॥

यह तो पहले ही कह चुके हैं कि सागर में नदियों के सदृश नाम-रूप से परे होकर मुक्तात्मा उस परब्रह्म में मिल जाता है। इसके अतिरिक्त श्रुति में अन्यत्र स्थलों में भी ऐसा ही उल्लेख प्राप्त होता है। फिर यहाँ उस मुक्तात्मा के विविध देह धरने एवं यथेच्छ भोग-भूमियों में विचरने की बात कैसे कही गई? इसी का समाधान अगले सूत्र में आचार्य करते हैं—

(५५०) स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि॥१६॥

सूत्रार्थ— स्वाप्ययसम्पत्योः = सुषुप्ति और मोक्ष-अर्थात् परब्रह्म की प्राप्ति (इन दोनों में से), अन्यतरापेक्षम् = किसी एक की अपेक्षा से (वे वचन) कहे हुए हैं, हि = क्योंकि, आविष्कृतम् = श्रुतियों में स्पष्ट किया गया है कि ऐश्वर्य-प्राप्ति संभव है।

व्याख्या— सुषुप्ति और मोक्ष (परब्रह्म की प्राप्ति)— इन दोनों में से किसी एक अवस्था की अपेक्षा द्वारा ही ऐश्वर्य का प्राकट्य होना बतलाया गया है, क्योंकि सुषुप्तावस्था में आनन्द का वास्तविक भोग नहीं होता, किन्तु मोक्ष की स्थिति में संकल्प मात्र से ही ऐश्वर्य की प्राप्ति हो जाती है। इस अवस्था में सर्वज्ञता का उद्‌भव जीवात्मा की विशेष स्थिति होती है; क्योंकि सुषुप्ति की दशा में ज्ञान का सर्वथा अभाव बना रहता है। छा.उ.(६/८/१) एवं प्रश्नोप. (४/७/८) इन दोनों श्रुतियों में जो किसी भी तरह का ज्ञान न होने की एवं समुद्र में नदी की तरह से उस अविनाशी परब्रह्म में मिलने की बात कही गई है, वह कार्यब्रह्म के लोकों को प्राप्त होने वाले अधिकारी सत्पात्रों के लिए नहीं, वरन् लय-अवस्था को लेकर वैसा कथन किया गया है। (प्रलय काल में भी प्राणी की स्थति सुषुप्तिवत् ही होती है,अतः ऐसा लगता है कि उसका उल्लेख अलग सूत्रों में नहीं मिलता)। ऐसा ही वर्णन मु.उ. ३/२/८ एवं बृह. २/४/१२ में मोक्ष अर्थात् परब्रह्म की प्राप्ति को लेकर किया गया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि लय-अवस्था एवं मोक्ष प्राप्ति इन दोनों में से किसी एक के उद्देश्य से वैसा कथन किया गया है, क्योंकि ब्रह्मलोकों में गमनार्थ सत्पात्रों के लिए तो स्पष्ट शब्दों में वहाँ के दिव्य भोगों के भोग की, विभिन्न देह धरने एवं इच्छानुसार लोकों में भ्रमण की बात श्रुति के उन स्थलों में वर्णित है। अतः किसी भी तरह का विरोध नहीं है॥१६॥

अब जिज्ञासा होती है कि जब ब्रह्मलोक में गये हुए प्राणियों में इस तरह से अपने अनेक देह धारण कर भोगों को भोगने की शक्ति है,तब तो उनमें परब्रह्म की तरह से जगत् सर्जना आदि की भी शक्ति आ जाती होगी? इसी का समाधान सूत्रकार अगले सूत्र में करते हैं—

(५५१) जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च॥१७॥

सूत्रार्थ— जगद्व्यापारवर्जम् = जगत् की संरचना आदि व्यापार को छोड़कर और अन्य बातों में ही उन प्राणियों की शक्ति (सामर्थ्य) होती है, प्रकरणात् = क्योंकि प्रकरण से यही सिद्ध होता है, च = और, असन्निहितत्वात् = जगत् की संरचना आदि कार्य में इन प्राणियों का निकटस्थ सम्बन्ध नहीं दर्शाया गया है (इसलिए भी उक्त कथन की सिद्धि होती है)।

व्याख्या— श्रुतियों में मुक्तात्मा में परब्रह्म के सदृश व्यापकता न होने के कारण जगत् की संरचना आदि कार्यों को सम्पन्न करने की शक्ति-सामर्थ्य नहीं बतलायी गई है। श्रुति में जहाँ-जहाँ भी जगत् के उद्‌भव आदि का उल्लेख किया गया है, उस प्रकरण में यह सभी कार्य एकमात्र ब्रह्म के ही बतलाये गये हैं, मुक्तात्मा के नहीं। श्रुतियों में जहाँ-जहाँ पर इस जड़-चेतनात्मक सम्पूर्ण विश्व के उद्‌भव,संचालन एवं प्रलय का प्रकरण आया है, वे निम्नवत् हैं- छा.उ. ६/२/१ से ३,ऐ.उ. १/१ , बृह.उ. ३/७/३ से २३ तक, तै.उ. ३/१,

शत.ब्रा. १४/३/५/७ से ३१ में सर्वत्र उक्त कार्य को सम्पादित करने की सामर्थ्य एकमात्र परब्रह्म में ही कही गयी है। ब्रह्मलोक में गये मुक्त प्राणियों का सृष्टि-रचना आदि कार्य से सम्बन्ध कहीं पर भी नहीं मिलता है। इस प्रकार उक्त उद्धरणों (प्रमाणों) से यह सिद्ध हो जाता है कि जड़-चेतन सम्पूर्ण जगत् की रचना, उसकी गतिशीलता एवं प्रलय आदि जितने भी कार्य हैं, उनमें उन मुक्त प्राणियों की कुछ भी सामर्थ्य नहीं है, वे तो मात्र वहाँ के दिव्य भोगों को ही भोगने में समर्थ होते हैं ॥१७॥

अब उक्त विषय पर पूर्वपक्ष उठाकर उसका समाधान करते हैं—

(५५२) प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ॥१८॥

सूत्रार्थ— चेत् = यदि कहो कि, प्रत्यक्षोपदेशात् = वहाँ जीवात्मा का प्रत्यक्ष रूप से पहुँचकर इच्छानुसार कार्य करने का (लोकों में विचरण करने का) उपदेश होने से सामर्थ्य होना सिद्ध होता है, इति न = तो ऐसी बात नहीं है, आधिकारिकमण्डलस्थ = क्योंकि अधिकारियों के लोकों में स्थित भोगों को भोगने के लिए ही, उक्तेः = कहा गया है।

व्याख्या— छान्दोग्योपनिषद् ७/२५/२ के अनुसार यदि यह आशंका करें कि वह स्वराट् हो जाता है, उसकी सभी लोकों में इच्छानुसार गमन की शक्ति-सामर्थ्य सिद्ध हो जाती है। तै.उ. १/६/२ भी कहता है कि 'वह जीवात्मा स्वाराज्य को प्राप्त हो जाता है'। इन श्रुति वचनों में उस जीवत्मा को स्पष्ट शब्दों में स्वराट् एवं स्वाराज्य को प्राप्त होना कहा गया है तथा इच्छानुसार समस्त लोकों में विचरण की सामर्थ्य से युक्त कहा गया है। इससे यह ज्ञात होता है कि उसका जगत् संरचना आदि कार्यों में भी अधिकार है, तो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वहाँ (तै.उ. १/६/२ में) यह भी कहा गया है कि 'वह सबके मन के स्वामी को प्राप्त हो जाता है'। अत: उसकी सामर्थ्य उस ब्रह्मलोक की प्राप्ति के प्रभाव से है और वह ब्रह्मा के अधीन है। इसी कारण जगत् के कार्य में हस्तक्षेप करने की सामर्थ्य उसमें नहीं होती। उसे जो-जो शक्ति एवं अधिकार प्रदान किये गये हैं, वे मात्र उन-उन सत्पात्रों के लोकों में अवस्थित भोगों को भोगने की स्वतन्त्रता के लिए ही हैं। अत: उनकी स्वतन्त्रता सामर्थ्य मात्र दिव्य भोगों को भोगने तक ही सीमित है, सृष्टि संरचना आदि के कार्यों को सम्पन्न करने की नहीं॥ १८॥

अब आशंका यह होती है कि यदि इस तरह के उन-उन लोकों के विकारमय भोगों को भोगने के लिए ही वे सब देह, सामर्थ्य एवं अधिकार आदि उसे प्राप्त हैं, तब तो दिव्य लोकों को पाने वाले कर्माधिकारियों की भाँति ही ब्रह्मविद्या का भी फल हुआ, तो फिर इसमें क्या विशिष्टता हुई? इसी का समाधान अगले सूत्र में आचार्य करते हैं—

(५५३) विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह॥१९॥

सूत्रार्थ— च = इसके अतिरिक्त, विकारावर्ति = वह मुक्तात्मा जन्म-मृत्यु आदि के विकारों से परे ब्रह्मरूप फल का अनुभव करता है, हि = क्योंकि, तथा = उसकी वैसी, स्थितिम् = स्थिति, आह = श्रुति बतलाती है।

व्याख्या— मुक्तात्मा तो जन्म, जरा-मरण आदि के विकारों से परे होकर निरन्तर ब्रह्म की ही अनुभूति करता रहता है। तैत्तिरीय उपनिषद् (२.७.१) - (**'रसौ वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति'**) के अनुसार 'वह ब्रह्म रसस्वरूप है, उसे पाकर जीवात्मा आनन्दमय हो जाता है।' इस प्रकार ब्रह्मविद्या की उपयोगिता परब्रह्म की उपलब्धि में ही सार्थक सिद्ध होती है। छा.उ. ८/१/५ में ब्रह्मविद्या का प्रमुख फल ब्रह्म-प्राप्ति ही कहा गया है- 'जो जन्म,जरा-मरण आदि विकारों से रहित, अजर-अमर, समस्त पापों से परे एवं कल्याणमय दिव्य गुणों से युक्त है।' इस श्रुति वचन से यह स्पष्ट होता है कि उसको मिलने वाला फल कर्मफल की तरह से विकार युक्त नहीं होता। ब्रह्मलोक के भोग तो मात्र आनुषङ्गिक फल हैं। ब्रह्मविद्या की सार्थकता तो एकमात्र ब्रह्म को पाने में ही है। तै.उ. २/७/१ में मुक्तात्मा की ऐसी अवस्था कही गई है- **'यदाह्येवैष**

.......गतो भवति' अर्थात् जब यह मुक्तात्मा इस देखने में न आने वाले देह से रहित, व्यक्त करने में न आने वाले एवं अन्य किसी का आश्रय न लेने वाले परब्रह्म में निमग्न होकर आनन्द लाभ लेता है और तभी वह उस निर्भय पद को प्राप्त कर लेता है, उसी में समाहित हो जाता है॥१९॥

अगले सूत्र में आचार्य पूर्व में कहे हुए सिद्धान्त को प्रमाण द्वारा और दृढ़ करते हैं—

(५५४) दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने॥ २०॥

सूत्रार्थ— च = और (भी), एवम् = इसी प्रकार (वह शक्ति-सामर्थ्य से युक्त नहीं होता), प्रत्यक्षानुमाने = श्रुति और स्मृतियों में, दर्शयतः = देखने को मिलता है।

व्याख्या— मुक्तात्मा सृष्टि का निर्धारण कर्त्ता नहीं हो सकता। यह कथन श्रुति- स्मृतियों के प्रमाणों द्वारा सिद्ध है। श्रुति में ब्रह्म का निर्गुणत्व प्रतिपादित किया गया है- **न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं ......।** (कठ. २/२/१५) 'सूर्य भी उस ब्रह्म के समक्ष प्रकाशित नहीं होता, तो फिर वहाँ चन्द्रमा, तारागण एवं अग्नि के प्रकाशित होने की बात ही नहीं उठती, इससे उस परम दिव्य ज्योति में विकार न होना सिद्ध होता है। छा. उ. ८/३/४ नामक श्रुति में स्पष्ट रूप से कहा गया है- 'वह परम ज्योति को प्राप्त हो अपने यथार्थ स्वरूप में युक्त हो जाता है'। यह आत्मा है, यही अमृत एवं अभय है और यही ब्रह्म है।' आगे पुनः छा.उ.(८/४/१ एवं ८/१३/१) में कहा गया है कि 'ब्रह्मलोक अन्य लोकों की तरह से विकार युक्त नहीं है।' श्रुति में उसे नित्य एवं समस्त पापों से रहित बतलाया गया है। ब्रह्म के धर्म से सम्पन्न ब्रह्मलोक में अवस्थित होकर जीव वहाँ के भोगों का ही अधिकारी सिद्ध होता है। वह ब्रह्म के कर्म से सम्पन्न नहीं होता; क्योंकि ब्रह्म ही सर्वेश्वर है। स्मृतियों के अन्तर्गत गीता (अ. १४/२)में कहा गया है कि 'इस ज्ञान की उपासना करके मेरे सदृश धर्मों को अर्थात् निर्लेपता आदि दिव्य कल्याणमय भावों को प्राप्त होते हैं, अतः वे (प्राणी) न तो जगत् की रचना काल में प्रकट होते हैं तथा न प्रलय काल में मरण का दुःख ही भोगते हैं।' इस प्रकार श्रुति एवं स्मृतियों में मुक्तात्मा की वैसी ही स्थिति प्रदर्शित की गई है। स्मृति में भी ब्रह्म को ही सृष्टि का नियामक कहा गया है। अल्प सामर्थ्य वाला महान् सामर्थ्य वाले को प्राप्त होकर उसके आश्रय से गुण-सम्पन्न हो सकता है, इसे स्वीकारने में कोई अवरोध उत्पन्न नहीं होगा॥२०॥

ब्रह्मलोक में गमन करने वाले मुक्त प्राणियों का जगत् के उद्भव आदि में अधिकार या शक्ति-सामर्थ्य नहीं है, इस पूर्वोक्त कथन को इस प्रकरण के समापन पर पुनः अगले सूत्र में आचार्य प्रमाणित करते हैं—

(५५५) भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च॥२१॥

सूत्रार्थ— भोगमात्रसाम्यलिङ्गात् = ब्रह्मवत् अनुभव समता रूप भोग मात्र लक्षण से, च = भी (यही प्रमाणित होता है कि जीव-जगत् की संरचना आदि में उस (मुक्तात्मा) का अधिकार नहीं हो सकता)।

व्याख्या— जिस तरह से वह ब्रह्मा सभी तरह के दिव्य कल्याणकारी भोगों को भोगता हुआ भी उन पदार्थों में संलिप्त नहीं होता, उसी तरह यह मुक्त प्राणी भी उस ब्रह्मलोक में निवास करते समय उपासना की अवधि में की हुई भावना के द्वारा प्राप्त हुए वहाँ के दिव्य भोगों का बिना देह के स्वप्नवत् एकमात्र संकल्प द्वारा या अन्य देह धारण पूर्वक जाग्रत् की भाँति भोगते हुए भी उनसे संलिप्त नहीं होता। इस प्रकार भोग मात्र में उस ब्रह्मा के साथ उसकी समानता है। इस समता रूप लक्षणों से भी यही प्रमाणित होता है कि जगत्-संरचना आदि कार्यों में उस मुक्तात्मा का ब्रह्मा के सदृश किसी भी अंश में अधिकार अथवा शक्ति-सामर्थ्य नहीं है॥२१॥

यदि ब्रह्मलोक के निवासी मुक्तात्मा की शक्ति सीमित है, परब्रह्म के सदृश असीम नहीं है, तब तो फिर उसके भोग भोगने की अवधि पूरी होने पर उसका पुनः जन्म भी हो सकता है? इसी जिज्ञासा का समाधान करते हुए

आचार्य अब इस पाद व अध्याय के सहित इस शास्त्र को पूर्णता प्रदान करते हैं—

(५५६) अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्॥२२॥

सूत्रार्थ- अनावृत्तिः = ब्रह्मलोक को प्राप्त हुए मुक्तात्मा का पुनः आगमन (पुनर्जन्म) नहीं होता है, शब्दात् = यह बात श्रुति-वचनों द्वारा प्रमाणित हो चुकी है। अनावृत्तिः = पुनः आगमन नहीं होता, शब्दात् = यह बात श्रुति-वचन से पुष्ट होती है। ('अनावृत्ति शब्दात्' का दो बार प्रयुक्त होना समापन का संकेत है)।

व्याख्या- जो भी मुक्तात्मा परब्रह्म में समाहित होकर दिव्य ब्रह्मलोक में अवस्थित हो जाता है। संसार में उसका पुनरागमन नहीं होता। वह इस संसार के आवागमन (जन्म-मरण) के चक्र से सदैव के लिए मुक्त हो जाता है। बृह.उ. (६/२/१५), प्रश्नोप. (१/१०), छा.उ.(८/६/६,४/१५/६ एवं ८/१५/१) इत्यादि श्रुतियों में बारम्बार उपर्युक्त कथन विवेचित हुआ है कि दिव्य ब्रह्मलोक में गया हुआ ज्ञानी-साधक पुनः मृत्यु लोक में वापस नहीं आता। इस प्रकार शब्द-प्रमाण से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्मलोक को पाने वाला अधिकारी वहाँ से पुनः इस मानवलोक में नहीं आता। दो बार 'शब्द-आवृत्ति' प्रयुक्त होने से सूत्रकार अध्याय के समापन का संकेत देते हैं॥२२॥

॥ इति चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ॥

परिशिष्ट-क

वेदान्तदर्शन-शब्दानुक्रमणिका

शब्द	सूत्रविवरण	शब्द	सूत्रविवरण	शब्द	सूत्रविवरण
अमुक्त	३.३.३२	आख्यायिका	१.३.३५,२.३.४१	आश्मरथ्य	१.२.२९,१.४.२०
अमूर्त्त	३.२.२२	आख्यायित	२.४.३	आश्रय	१.३.५
अमृतत्त्व	४.१.१७	आगम	२.२.४५	आश्रयभूत	३.२.२२,३.३.६५
अमृतसेतु	१.३.१	आतिवाहिक	४.३.४	आश्वलायन	३.१.३
अरणि	३.४.३६	आत्मज्ञान	३.१.७	आश्वस्त	१.४.१०
अर्चि	४.३.१	आत्मनिवेदन	३.४.३८,४.१.१	आस्रव	२.२.३३
अर्थभूत	४.३.१०	आत्म-भाव	४.१.३	आह्लाद	२.३.२३
अर्थान्तर	१.४.१५	आत्म-विज्ञान	१.४.२०	आहवनीय	१.२.२४
अवधारण	३.३.५२	आत्म-साक्षात्	१.१.१९	इच्छित	२.३.३८
अवयवयुक्त	२.२.३५	आत्मसात्	३.४.२४	इतर	३.३.५५
अवयवरहित	२.१.१०	आत्मा	३.३.१६,४.४.३	इन्द्रियगोलकादि	३.२.२२
अवरोध	३.१.२३,३.३.६०,	आत्रेय	३.४.४४	इष्टयज्ञ	३.१.१७
	४.३.३	आदाता	२.३.३५	इष्टापूर्त	३.१.१२
अवलम्बन	१.३.३,३.१.२७,	आधिदैविक	१.१.२९,३.२.२२	ईक्षण	१.१.५
	४.१.१७	आधिपत्य	२.४.१७,४.४.९	ईथर	२.२.२४
अवशेष	३.१.८	आधिभौतिक	३.२.२२	ईशिता	१.१.२३
अवस्थान	१.२.२५	आनन्दमय	३.३.१५	ईश्वरार्पण	२.३.४२
अवस्थित	४.२.६	आनुषङ्गिक	४.४.१९	उक्त	३.३.४६
अवान्तर	३.३.५२	आपात् काल	३.४.२९	उच्चाश्रम	३.४.४०
अविनाशी	३.४.१,४.३.१०	आप्त	१.३.२	उच्छिष्ट	३.४.२८
अविभक्त	४.४.४	आप्तकाम	४.२.१३	उच्छेद	२.३.१७
अविरोध	२.३.६	आभास	२.३.५०	उच्छेदन	३.४.१८
अव्यक्त	१.४.१	आभ्यन्तरिक	२.२.१८	उत्क्रमण	३.१.१,४.२.१२
अव्यय	१.२.२१	आयतन	१.३.४	उत्क्रान्ति	२.३.२०
अव्याकृत	१.४.१५,२.१.१७,	आरण्यक	३.२.४	उत्क्रान्तिकाल	१.३.४२
	३.३.२	आरम्भक	२.२.१६	उत्कृष्टता	३.३.४०
अष्टगुण	१.३.२०	आराध्य	३.३.५०	उत्तरायण	१.२.१६,४.२.२१,
अष्टभेदी	२.१.१४	आरोपण	२.१.२९		४.३.२
असत्कर्मा	३.१.१७	आर्तभाग	३.१.४	उत्ताल	२.२.११
असीम	२.२.९	आर्ष	१.१.३	उत्पत्तिशील	२.३.५
अस्तित्व	२.४.११	आलम्बन	२.२.२१	उदान	३.१.३
अहम्	३.३.२१	आलोकित	४.४.१५	उदासीन	२.२.४
अहीन	४.४.१२	आवरण	१.१.१,२.२.२४,	उद्गीथ	३.४.१०,३.४.११
आंशिक	३.३.१		२.३.२८		४.१.६
आकांक्षा	२.४.१४	आवागमन	२.३.२०	उद्धरण	४.३.१३
आकाश	१.३.४१	आवृत्ति	४.४.२२	उद्धृत	२.३.२४,३.४.२५

शब्द	सूत्रविवरण	शब्द	सूत्रविवरण	शब्द	सूत्रविवरण
उद्‌भव	२.१.३०,२.३.११,	ऊर्ध्वरेता	३.४.१८	काशकृत्स्न	१.४.२१
	३.२.१७,४.३.३	ऋत्विक्	३.४.४६	किञ्चिन्मात्र	३.३.५१
उद्‌भासित	१.४.१	ऋत्विज्	३.४.३	कुण्डलाकारवत्	३.२.२७
उद्‌भिज्ज	३.१.२१	एकदेशीय	२.२.३४,३.४.१०	कुण्डलादिभाव	३.२.२७
उद्विग्न	४.२.१४	एकाग्र	४.१.८	कुम्भकार	२.२.३९
उन्मान	३.२.३१	एकात्मता	३.२.६	कुम्भीपाक	३.१.१४
उन्मीलित	३.२.१०	एकात्म	१.२.१	केन्द्रक	१.४.८
उपकरण	२.१.२५	एकीकृत	४.२.४	कौषीतकि	३.३.२६
उपकोशलविद्या	३.३.५८	ऐक्य	२.३.४३	क्रमिक	१.४.१४
उपक्रम	१.४.९	ऐतरेय	१.१.६,३.२.४	क्रियमाण	४.१.१९
उपगम	४.२.४	ओंकार	४.१.९	क्षणभंगुर	२.२.१८,३.२.४१
उपनयन	१.३.३६	ओत-प्रोत	१.३.१०	क्षणिकवाद	२.२.२५
उपनिषद्	४.१.११	औडुलोमि	४.४.६	क्षीरपायी	२.२.३
उपन्यस्त	४.२.१४	औपनिषद्	२.४.८	क्षुधापूर्ति	३.४.३०
उपपातकी	३.४.४२	औपनिषदिक	१.१.५	क्षेत्र	१.३.२७
उपभोग	४.४.१४	औपन्यासिक	१.२.२३	क्षेत्रज्ञ	२.३.२५
उपमेय	३.२.२०	कं	१.२.१५	खं	१.२.१५
उपरत	३.४.४७	कटक-कुण्डल	१.१.२	गन्तव्य	२.२.७
उपलक्षण	३.१.२	कठोपनिषद्	४.३.१३	गर्भक्षेत्र	३.१.२७
उपसंहार	३.३.५,३.३.३९	कपूयचरण	३.१.११	गायत्री	१.१.२५
उपाख्यान	३.४.२३	कम्पायमान	१.३.३९	गार्हपत्य	१.२.२४
उपादान	२.१.१८	कर्तृक	४.४.१२	गुणातीत	२.३.४७
उपादान-कारक	१.४.२८	कर्मकृत	३.२.३८	गुणानुवाद	३.४.३४
उपादान-कारण	१.३.११,३.२.३७	कर्माङ्ग	३.४.१४	गुरुतर	२.१.३३
उपादेय	२.२.२२	कर्मानुष्ठान	३.१.१०	गोलक	२.४.७
उपाधि	२.३.५३	कर्माशय	३.१.११	गोत्र	१.३.३७
उपाधिकृत	३.३.३६	कल्प	२.३.१५	गौण	२.४.४,४.३.१२
उपासक	३.३.२०	कल्पभेद	१.४.१४	घटाकाश	२.३.५१
उपासना	१.४.१७	कल्पान्तर	१.३.२८	घटीयन्त्र	२.२.१९
उपास्य	१.१.२१,३.३.२०,	काण्व	१.२.२०	घ्राता	२.३.३३
	४.१.५	काण्व-शाखा	१.४.१३	चक्षु	१.२.१४
उपास्यत्व	१.२.५	काम्यकर्म	३.२.४	चतुष्टय	२.२.१८
उपेक्षणीय	२.२.१७	कारणभूत	२.१.१५	चमस	१.४.८
उभयलिङ्गत्व	३.२.१२	कारण-शरीर	१.४.१	चरमावस्था	३.३.३७
ऊर्ध्व	१.३.१	कार्यब्रह्म	४.३.११	चित्त	४.१.८
ऊर्ध्वगमन	४.२.१८	कार्ष्णाजिनि	३.१.९	चित्रगुप्त	३.१.१६

शब्द	सूत्रविवरण	शब्द	सूत्रविवरण	शब्द	सूत्रविवरण
निष्कल	२.१.२६	परिमाण	१.३.२५,३.२.९	प्रतिपादन	२.२.३६,३.१.२४
निष्क्रियत्व	२.२.२७	परिमाण्डल्य	२.२.११		४.३.१२
निष्णात	३.२.४	परिमाप	१.३.२२,२.२.३४	प्रतिबिम्ब	१.२.१७,३.२.२०
निस्तारण	१.४.२९,३.१.१२,	परिलक्षित	३.२.१९	प्रतिबिम्बित	३.२.१८
	३.३.४९	परिवेष्टित	२.३.३०,३.१.३	प्रतिभाषित	२.२.१८
निस्सार	२.२.४१	परिष्कार	२.३.३	प्रतिवाद	३.४.१८
निषिद्ध	१.३.३८	परिष्कृत	३.२.२५	प्रतिसंख्या	२.२.२२
नीलिमा	२.२.२८	पाञ्चरात्र	२.२.४२	प्रतिसर्ग	२.३.१४
नेत्रान्तर्वर्ती	३.३.२३	पाण्डित्य	३.४.४७	प्रत्यक्षीकरण	२.३.१६
न्यूनतम	२.२.१६	पारिप्लव	३.४.२३	प्रत्यय	१.१.१३
पंचप्राण	१.४.१२	पार्थक्य	२.२.१०	प्रतीकोपासना	३.३.१,४.१.४
पंचभूत	३.३.२४,४.२.५	पाशुपत	२.२.३८		४.३.१६
पंचभौतिक	४.२.६	पितृयान	४.३.५,४.२.२१	प्रतीति	३.२.३०
पंचवृत्तियाँ	२.४.१२	पिप्पलाद	३.१.३	प्रथमतः	२.१.२६
पतितपावनता	३.२.२६	पुंसत्व	२.३.३१	प्रदाता	१.१.१७
पदच्युत	३.४.४३	पुण्यापुण्य	१.२.२१	प्रद्युम्न	२.२.४३
पदार्थ	२.२.३०	पुत्रैषणा	३.४.४८	प्रमाणित	३.१.६
पदार्पण	१.४.२	पुनरागमन	२.१.३६,४.४.२२	प्रयुक्त	१.२.२५
परदेवता	४.२.८	पुनर्कथन	२.४.२२	प्रयोक्ता	३.४.१८
परब्रह्म	१.१.२६,३.२.१९	पुनर्जन्म	२.३.३०,४.२.२	प्रयोजन	२.१.३२
	४.१.१३,४.२.१५	पूर्वपक्ष	३.४.१३	प्रयोजनीय	१.३.१६
परमगति	३.४.३७	पूर्वानुवाक	१.४.१५	प्रलय	१.१.२
परमाणु	२.२.११	पूर्वापर	१.२.१०	प्रलयकाल	४.२.८
परमाणुवाद	२.२.१५	पृथक्ता	२.३.२६	प्रलयदशा	२.३.९
परमात्मतत्त्व	४.३.११	प्रकृति	१.१.११	प्रवर्तक	२.२.४
परमात्मवत्	१.४.२१	प्रख्यात	३.१.२०	प्रवर्द्धित	३.३.४३
परमात्मामय	३.४.५२	प्रचुर	३.२.९,३.४.३	प्रवहमान	४.२.१६
परा	१.२.२१	प्रजापति	४.३.३	प्रवाहण	३.१.१.
पराकाष्ठा	१.३.२६	प्रज्ञान	१.१.२८	प्रवृत्तिमूलक	२.२.१४
परात्पर	३.४.१,४.४.४	प्रज्ञानघन	४.४.६	प्रव्रज्या	३.४.२०
पराप्रकृति	३.२.३४	प्रणव	१.१.२५,३.४.३६	प्रसङ्ग	१.१.१८
पराशक्ति	२.१.२४	प्रणेता	२.१.३	प्रसूता	२.२.५
परिकल्पना	४.३.१२	प्रतर्दन	१.१.२८	प्रस्थानत्रयी	२.३.४५,४.१.१०
परिणत	२.१.७,३.१.६	प्रतिच्छाया	३.२.२९	प्राकट्य	३.२.५,४.४.१६
परिपक्वता	३.४.४७	प्रतिज्ञा-वाक्य	१.४.२३	प्राकृत	३.२.२३
परिपुष्टता	१.३.३०	प्रतिपादक	३.२.३२	प्राजापत्य	३.३.६

परिशिष्ट–ख

वेदान्तदर्शन–सूत्रानुक्रमणिका

सूत्र	सूत्रविवरण	सूत्र	सूत्रविवरण	सूत्र	सूत्रविवरण
वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः	४.३.६	संध्येसृष्टिराह हि	३.२.१	साम्पराये कर्त्तव्याभावा	३.३.२७
वैधर्म्याच्च न स्वप्ना	२.२.२९	संयमने त्वनुभूये	३.१.१३	सुकृतदुष्कृते एवेति तु	३.१.११
वैलक्षण्याच्च	२.४.१९	संस्कारपरामर्शा	१.३.३६	सुखविशिष्टाभिधानादेव	१.२.१५
वैशेष्यात्तु	२.४.२२	स एव तु कर्मानु	३.२.९	सुषुप्त्युत्क्रान्तयोर्भेदेन	१.३.४२
वैश्वानरः	१.२.२४	सत्त्वाच्चावरस्य	२.१.१६	सूक्ष्मं तु यदर्हत्वात्	१.४.२
वैषम्यनैर्घृण्ये	२.१.३४	सप्तगतेर्विशेषितत्वा	२.४.५	सूक्ष्मं प्रमाणतश्च	४.२.९
व्यतिरेकस्तद्भावा	३.३.५४	समन्वारम्भणात्	३.४.५	सूचकश्च हि श्रुते	३.२.४
व्यतिरेकानवस्थितेश्च	२.२.४	समवायाभ्युपगमाच्च	२.२.१३	सैव हि सत्यादयः	३.३.३८
व्यतिरेको गन्धवत्	२.३.२६	समाकर्षात्	१.४.१५	सोऽध्यक्षे तदुपग	४.२.४
व्यतिहारो विशिंषन्ति	३.३.३७	समाध्यभावाच्च	२.३.३९	स्तुतयेऽनुमतिर्वा	३.४.१४
व्यपदेशाच्च क्रियायां	२.३.३६	समान एव चाभेदात्	३.३.१९	स्तुतिमात्रमुपादनादि	३.४.२१
व्याप्तेश्च समञ्जसम्	३.३.९	समाननामरूपत्वाच्चा	१.३.३०	स्थानविशेषात्प्रकाशा	३.२.३४
शक्तिविपर्ययात्	२.३.३८	समाना चासृत्युपक्रमाद	४.२.७	स्थानादिव्यपदेशाच्च	१.२.१४
शब्द इति चेन्नातः	१.३.२८	समाहारात्	३.३.६३	स्थित्यदनाभ्यां	१.३.७
शब्दविशेषात्	१.२.५	समुदाय उभयहेतुके	२.२.१८	स्पष्टो ह्येकेषाम्	४.२.१३
शब्दश्चातोऽकामकारे	३.४.३१	सम्पत्तेरिति	१.२.३१	स्मरन्ति च	२.३.४७
शब्दाच्च	२.३.४	सम्पद्याविर्भावः	४.४.१	,, ,,	३.१.१४
शब्दादिभ्योऽन्तः	१.२.२६	सम्बन्धादेवमन्यत्रापि	३.३.२०	,, ,,	४.१.१०
शब्दादेव प्रमितः	१.३.२४	सम्बन्धानु	२.२.३८	स्मर्यते च	४.२.१४
शमदमाद्युपेतः	३.४.२७	सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि	३.३.२३	स्मर्यतेऽपि च लोके	३.१.१९
शारीरश्चोभयेऽपि हि	१.२.२०	सम्भोगप्राप्तिरिति	१.२.८	स्मर्यमाणमनुमानं	१.२.२५
शास्त्रदृष्ट्या	१.१.३०	सर्वत्र प्रसिद्धो	१.२.१	स्मृतेश्च	१.२.६
शास्त्रयोनित्वात्	१.१.३	सर्वथानुपपत्तेश्च	२.२.३२	,,	४.३.११
शिष्टेश्च	३.३.६२	सर्वथापि त एवोभय	३.४.३४	स्मृत्यनवकाश	२.१.१
शुगस्य तदनादरश्रवण	१.३.३४	सर्वधर्मोपपत्तेश्च	२.१.३७	स्याच्चैकस्य	२.३.५
शेषत्वात्पुरुषार्थवादो	३.४.२	सर्ववेदान्तप्रत्ययं	३.३.१	स्वपक्षदोषाच्च	२.१.१०
श्रवणाध्ययनार्थ	१.३.३८	सर्वान्नानुमतिश्च	३.४.२८	,, ,,	२.१.२९
श्रुतत्वाच्च	१.१.११	सर्वापेक्षा च यज्ञादि	३.४.२६	स्वशब्दानुमानाभ्यां	२.३.२२
,,	३.२.३९	सर्वाभेदादन्यत्रेमे	३.३.१०	स्वात्मना चोत्तरयोः	२.३.२०
श्रुतेश्च	३.४.४६	सर्वोपेता च	२.१.३०	स्वाध्यायस्य	३.३.३
श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्	२.१.२७	सहकारित्वेन च	३.४.३३	स्वाप्ययसम्पत्त्यो	४.४.१६
श्रुतोपनिषत्कगत्य	१.२.१६	सहकार्यन्तरविधिः	३.४.४७	स्वाप्ययात्	१.१.९
श्रुत्यादिबलीय	३.३.४९	साक्षाच्चोभयाम्नानात्	१.४.२५	स्वामिनः	३.४.४४
श्रेष्ठश्च	२.४.८	साक्षादप्यविरोधं	१.२.२८	हस्तादयस्तु	२.४.६
संकल्पादेव तु	४.४.८	सा च प्रशासनात्	१.३.११	हानौ तूपायनशब्द	३.३.२६
संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु	३.३.८	सामान्यात्तु	३.२.३२	हृद्यपेक्षया तु	१.३.२५
संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु	२.४.२०	सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः	४.३.९	हेयत्वावचनाच्च	१.१.८

॥ इति वेदान्तदर्शन-सूत्रानुक्रमणिका समाप्ता ॥